

संत कबीर की विवेकधारा से अनुप्राणित

पारख प्रकाश

वर्ष 48

जनवरी-फरवरी-मार्च
2019

अंक 3

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, एकता तथा मानव-धर्म-प्रेरक हिन्दी पत्रिका

विषय-सूची

प्रवर्तक
सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब
श्री कबीर मन्दिर, बड़हरा
पोस्ट—महोबाजार
जिला—गोंडा, उ०प्र०

आदि संपादक
सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब

संपादक
धर्मेन्द्र दास

आदि व्यवस्थापक
प्रेम प्रकाश

मुद्रक एवं प्रकाशक
गुरुभूषण दास

पारख प्रकाश इंटरनेट पर
www.kabirparakh.com

वार्षिक शुल्क : 50.00
एक प्रति : 13.00
आजीवन सदस्यता शुल्क
1250.00

कविता

तबै परम पद पाई
सीखो ऐ मन प्रेम की भाषा
गजल

स्तंभ

पारख प्रकाश / 2
बीजक चिंतन / 30

लेख

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं!
क्या वेद नसली वर्गीकरण का गवाह है?
अप्पदीपो भवः
क्रोध पर कैसे काबू पायें?
चित्त का उदासी का कारण

कहानी

मिस रोशनी

लेखक

सद्गुरु कबीर
डॉ. अमरनाथ सिंह
श्री लखन प्रतापगढ़ी

श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट
श्री धर्मदास
विवेकदास
श्री ललितप्रभ जी महाराज

दिनेन्द्र दास

पृष्ठ
1
6
48

7
12
24
32
39

21

बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या

(प्रथम खण्ड : इक्कीसवां संस्करण, द्वितीय खण्ड : बीसवां संस्करण)

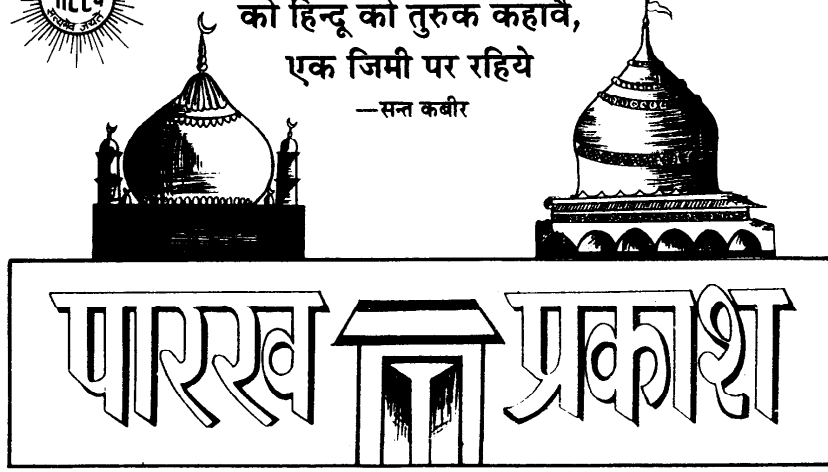
बीजक सद्गुरु कबीर की सर्वथा मौलिक एवं सर्वाधिक प्रामाणिक रचना है। मानव-जीवन के सरल व्यावहारिक पक्षों के साथ अध्यात्म और दर्शन के गूढ़ पक्षों का इसमें बहुत ही सरल, सहज तथा सटीक चित्रण किया गया है। समाज, व्यवहार, धर्म, दर्शन तथा परमार्थ की बहुत सारी शंकाओं का समाधान इसमें बहुत ही सुंदर ढंग से हुआ है। सद्गुरु कबीर ने जिस निर्भीकता के साथ मूल पद कहा है उसी निर्भीकता के साथ उसकी व्याख्या भी इस पारख प्रबोधिनी व्याख्या में की गई है। तर्कयुक्त चिंतन तथा अनेक ऐतिहासिक तथ्यों एवं साक्ष्यों के कारण वर्ण्य विषय अत्यंत सजीव बन गया है। प्रथम खण्ड, पृष्ठ 992, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 960, मूल्य—प्रथम खण्ड 250 रु०, द्वितीय खण्ड 250 रु०।



सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,
एक जिमी पर रहिये

—सन्त कबीर



गुरु सीढ़ी ते ऊतरै, शब्द बिमुखा होय ।
ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय ॥ बीजक, साखी 286 ॥

वर्ष 48]

इलाहाबाद, पौष, वि. सं. 2075, जनवरी 2019, सत्कबीराब्द 620

[अंक 3

तबै परम पद पाई

नर तैं क्या पुराण पढ़ि कीन्हा।
अनपायनी भक्ति नहीं उपजी, भूखै दान न दीन्हा ॥टेका॥
पूज शिला चन्दन घसि लावै, बक ज्यों ध्यान लगावै।
अन्तर घट के राम न चीन्है, थोथे घण्ट बजावै ॥ 1 ॥
काम न बिसरा क्रोध न बिसरा, लोभ न छूटा देवा।
पर निन्दा मुख ते नहिं छूटी, बिफल भई सब सेवा ॥ 2 ॥
बाट पारि घर मूस बिरानो, पेट भरे अपराधी।
जिहि परलोक जाय अपकीरति, सोई अविद्या साधी ॥ 3 ॥
हिंसा तो मन से नहीं छूटी, जीव दया नहिं पाली।
परमानन्द साधु संगति मिलि, कथा पुनीत न चाली ॥ 4 ॥
कहहिं कबीर सन्तन की महिमा, परम पुनीत सुहाई।
आपा मेटि आपको चीन्हो, तबै परम पद पाई ॥ 5 ॥



जैसी कहै करै जो तैसी

सद्गुरु कबीर ने बीजक साखी प्रकरण में एक साखी कही है—

गावै कथै बिचारे नाहीं, अनजाने का दोहा।
कहहिं कबीर पारस परसे बिना, जस पाहन भीतर लोहा ॥

(साखी 249)

अर्थात्—लोग दोहा, साखी, चौपाई, शब्द, भजन आदि गाते हैं, ज्ञान की बातें कहते हैं, परन्तु उन पर विचार करके उनका आचरण नहीं करते तो उनका गाना और कहना अनजाना-न जानने के समान ही है। कबीर साहेब कहते हैं जैसे जंग लगा हुआ लोहा पारस-पत्थर के भीतर रहते हुए भी जंग के कारण पारस से स्पर्श न होने के कारण सोना नहीं बन पाता वैसे ही विचारपूर्वक आचरण न करने से ज्ञान की वाणियों का पाठ-कथा-श्रवण करते रहने पर भी मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

महत्त्व इस बात का नहीं है कि आदमी क्या और कितना पढ़ा है, क्या और कितना जानता है, कितना बड़ा विद्वान, प्रवक्ता, कथावाचक है किन्तु महत्त्व इस बात का है कि जो जानता-कहता है उसका क्या और कैसे उपयोग करता है, उसके जीवन के कर्म और आचरण कैसे हैं। ज्ञानपूर्वक कर्म और आचरण के अभाव में बाह्य विद्वता लोकरंजन करके सांसारिक वैभव, पद, प्रतिष्ठा-प्राप्ति का साधन तो बन सकती है, परन्तु वह न तो उस व्यक्ति को मानसिक प्रसन्नता, तृप्ति और शान्ति दे सकती है और न लोककल्याण का कारण बन सकती है।

विद्वान वह नहीं है जो अनेक भाषाओं, लिपियों, विषयों एवं शास्त्रों का ज्ञाता है, किन्तु विद्वान वह है जो आचरणसम्पन्न एवं चरित्रवान है। आचरण और चरित्र के अभाव में अनेक भाषाओं, लिपियों, विषयों एवं

शास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना, उन पर चिन्तन-मनन करना एक प्रकार का व्यसन ही है। ऐसे लोगों को महाभारतकार व्यसनी और मूर्ख कहते हैं। देखें उनके ही वचनों में—

पठका: पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।

सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान स पण्डितः॥

(वनपर्व 312/110)

अर्थात्—पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सभी व्यसनी और मूर्ख हैं। विद्वान-पण्डित तो वह है जो क्रियावान अर्थात् सदाचरणसंपन्न है।

कर्म और आचरण के अभाव में सारी विद्वता, जानना-जानना निरर्थक ही नहीं अनर्थक है। उनका मूल्य फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं है। वह सब मात्र तोतारटंत है। सिखाने-पढ़ाने से तोता भी कुछ शब्दों को रट लेता है और दुहरा देता है, परन्तु उसका अर्थ-भाव क्या है उसे कुछ पता नहीं रहता। इस पर एक प्रसिद्ध और मनोरंजक कहानी कही जाती है—

एक बहेलिया जंगल में जाता, जाल बिछाता और तोतों को फंसाकर बाजार में बेच आता। इसे उसने अपनी जीविका का साधन बना रखा था। एक बार वह तोतों को फंसाकर बाजार में बेचने ले जा रहा था। रास्ते में एक महात्मा ने देखा तो पूछा कि तुमने इन्हें क्यों फंसा रखा है। बहेलिया ने कहा कि यही मेरी जीविका का साधन है। रोज जंगल में दो-चार तोतों को फंसाता हूँ और उन्हें बेचकर अपना तथा कुटुम्ब का पालन-पोषण करता हूँ। महात्मा ने पैसे देकर उन तोतों को खरीद लिया और अपने आश्रम में ले जाकर पढ़ाने लगा—

“बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।”

जब तोते अच्छी तरह से पढ़ और रट लिये तो महात्मा ने ले जाकर उन्हें जंगल में छोड़ दिया। तोते जंगल में हर समय यही दुहराने लगे। धीरे-धीरे जंगल के सारे तोते इसको याद कर लिये और दुहराने लगे।

एक दिन बहेलिया जाल लेकर आया और जैसे ही जाल बिछाना चाहा, तोतों की आवाज सुनकर उसके तो होश उड़ गये। वह समझा कि तोते अब मेरे जाल में फंसने वाले नहीं हैं। वह जाल समेटकर उदास घर वापस आने लगा। रास्ते में किसी ने उसकी उदासी का कारण पूछा। बहेलिया ने जब कारण बताया तब उसने कहा कि जाओ तुम जाल बिछाकर देखो तो। बहेलिया जंगल वापस जाकर जाल बिछाकर दाने बिखेरकर एक किनारे आड़ में बैठ गया। दाने देखकर तोते आये और दाने चुगने लगे और अपना पाठ दुहराने लगे। तोतों को जाल में बैठे देखकर बहेलिये ने जाल खींचा। सारे तोते जाल में फंस गये। बहेलिया उन्हें बाजार में बेचने ले गया तब भी तोते बड़े उमंग से गा रहे थे—

“बधिक आयेगा, जाल बिछायेगा, दाने डालेगा, मुझको फंसायेगा, निश्चय मैं नहीं फंसूंगा।”

पता नहीं यह कहानी, सिर्फ कहानी है या यथार्थ, परंतु ऐसे पढ़ तोता मानव-समाज में हर जगह मिल जायेंगे। वह तोता हम और आप भी हो सकते हैं। तोते को जो अच्छा-बुरा पढ़ा दोगे वह उसे रट लेगा और समय-समय पर उसे दुहरा देगा, परंतु उसका अर्थ क्या है उसे वह नहीं जानता-समझता। उसके पास न तो जानने-समझने की क्षमता है और न उसे आवश्यकता है। परंतु हम-आप तो मनुष्य हैं। हमारे पास तो जानने-समझने की क्षमता है। जानते-समझते भी हैं कि क्या अच्छा है और क्या गलत है, फिर भी अच्छे को अच्छा जान-समझकर न उसे ग्रहण कर पा रहे हैं और न आचरण, और न ही बुरे को बुरा जानकर उसका त्याग कर पा रहे हैं तो तोते में और हममें-आपमें अंतर ही क्या हुआ !

ध्यान रहे, मूर्ख वह नहीं है जो अनपढ़ और ना-समझ है, किन्तु मूर्ख वह है जो पढ़ा-लिखा है और समझने-बूझने की क्षमता रखते हुए भी गलत रास्ते में जा रहा है। जो नासमझ है उसका तो कभी सुधार हो सकता है परंतु जो अच्छे को अच्छा जानकर उसका ग्रहण-आचरण नहीं कर रहा है और बुरे को बुरा

जानकर उसका त्याग नहीं कर पा रहा है ऐसे मूर्खों का सुधार-कल्याण होना असंभव है। वह तो महा अभागा है। ऐसे ही लोगों के लिए सद्गुरु कबीर कहते हैं—

जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मंद न कोई।
कहहिं कबीर तेहि मूढ़ को, भला कौन विधि होई ॥

(बीजक, शब्द 58)

जो आदमी अनजान है, जो कुछ समझता ही नहीं है, उसे क्या दोष दिया जाये। दोषी तो वह है जो शास्त्रों को खूब पढ़ता-लिखता है, धर्म और अध्यात्म को अच्छी तरह जानता-समझता है, उस पर घंटों व्याख्यान देता है, फिर भी उसका आचरण नहीं करता, कुमार्गगामी है। जानना कुछ और करना कुछ यह तो अपने को ही धोखा देना, अपने साथ ही छल करना है। जानना कुछ, मानना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ इससे बड़ी मूढ़ता और क्या होगी। यदि हमारा जीवन आचरण और व्यवहार ऐसा ही है तो हमारा सारा ज्ञान मात्र तोतारटंत ही है।

ज्ञानी वह नहीं है जो बहुत जानता और पढ़ा-लिखा है किन्तु ज्ञानी वह है जो विपरीत से विपरीत परिस्थिति आने पर भी शांत-संयत रहता है, बड़ा से बड़ा प्रलोभन एवं मृत्यु-भय उपस्थित होने पर सत्य-धर्म से विचलित नहीं होता। अनुकूल परिस्थिति में शांत रहने में कौन विशेषता। उसमें तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी शांत रहते हैं। विशेषता तो प्रतिकूल परिस्थिति में शांत रहने में है। शांति-संतोष पर भाषण-प्रवचन-उपदेश देने वाले तो बहुत हैं। भाषण-प्रवचन देना तो प्रायः सभी जानते हैं। विशेषता तो हर परिस्थिति में शांत-संतुष्ट रहने में है।

काम, क्रोध, लोभ तीनों को नरक का द्वार कहा गया है। किसी से भी पूछो कि इनसे क्या-क्या हानि होती है तो वह एक नहीं अनेक हानियां गिना देगा। इनसे कैसे बचा जाये, काम, क्रोध, लोभ के आवेग आने पर बचने के लिए कौन-कौन उपाय हैं तो वह भी गिना देगा, परंतु स्वयं जिंदगी भर इनसे घिरा रहता है तो उसका जानना न जानने के समान ही है। उसका

सारा ज्ञान तोता-ज्ञान के समान है। काम का आवेग आने पर जो उसकी वासना में नहीं डूबता, क्रोध का आवेग आने पर उसकी ज्वाला में नहीं झुलसता वही सच्चा ज्ञानी है भले ही उसे पढ़ना-लिखना नहीं आता।

तथागत बुद्ध कहते हैं—

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये।

तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥

(धम्मपदं, कोधवग्गो 2)

अर्थात्—जिस प्रकार मचलते हुए घोड़ों को सम्हालकर जो रथ को सु-पथ पर ले आवे, उसे गड्ढे में गिरने न दे वही कुशल सारथी है और जो ऐसा न कर सके वह केवल लगाम पकड़ने वाला है। इसी प्रकार जो मन में उत्पन्न क्रोध को सम्हाल ले, मन-वाणी-इंद्रियों को संयत-शांत रखे वही सच्चा ज्ञानी-साधक है और जो ऐसा न कर सके उसका ज्ञान मात्र दिखावे का है, तोतारटंत है।

मैं शुद्ध-बुद्ध, निर्मल, निर्विकार आत्मा हूं, चेतन-जीव हूं, यह कहना तब तक काम नहीं आयेगा और तब तक इसका अनुभव नहीं होगा जब तक वैसी रहनी न हो, मन-वाणी-कर्म निर्मल-निर्विकार न हो। मैं शुद्ध-बुद्ध, निर्मल-निर्विकार चेतन जीव हूं रटने मात्र से कल्याण होता तो सबका कल्याण हो गया होता। मन-वाणी-कर्म की निर्मलता-शुद्धि के अभाव में मैं शुद्ध-बुद्ध-निर्मल चेतन-जीव हूं कहना केवल तोतारटंत है। मैं जीव हूं, चेतन हूं, आत्मा हूं, ब्रह्म हूं रटने से काम नहीं बनेगा। काम तो बनेगा इस भाव को हृदयंगम कर जीवन को निर्मल बनाने से। तोता भी राम-राम रट लेता है, परंतु उसे यह पता नहीं रहता कि राम क्या है, कौन है, उसका महत्त्व क्या है। क्या राम-राम रटने से तोता को राम का अनुभव हो जाता है। कदापि नहीं। और अनुभव के बिना रटने से कोई लाभ नहीं होने वाला है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं—

बिनु देखे बिनु अर्स पर्स बिनु, नाम लिये क्या होई।

पावक कहै पाँव जो डाहे, जल कहे तृषा बुझाई ॥

भोजन कहै भूख जो भाजे, तो दुनिया तरि जाई ॥

(बीजक, शब्द 40)

अर्थात्—जब तक किसी को देखा न जाये, उसका अरस-परस अनुभव न किया जाये तब तक मात्र नाम लेने से क्या होगा। यह समझना होगा कि राम क्या है।

भोजन-भोजन कहने से भूख दूर नहीं होती, पानी-पानी कहने से प्यास नहीं मिटती, आग-आग कहने से ठंडी दूर नहीं होती, शकर-शकर कहने से मुख मीठा नहीं होता इसी प्रकार मैं शुद्ध चेतन-जीव, अजर-अमर अविनाशी हूं कहने से न दुख दूर होगा और न गति-मुक्ति मिलेगी। दवा का नाम लेने मात्र से रोग दूर होकर आरोग्य-लाभ हो जाता तो दुनिया में एक भी आदमी रोगी न रहता। न डॉक्टरों की जरूरत पड़ती और न अस्पताल की। रोग दूर करना है तो दवा का नाम जानें या न जानें पथ्य-परहेज पूर्वक दवा का सेवन करना पड़ेगा। इसी प्रकार मैं शुद्ध-बुद्ध चेतन-जीव हूं न जपकर वैसी शुद्ध-निर्मल जीवन की रहनी बनानी होगी तब आत्मानुभव-आत्मकल्याण होगा।

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं—

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।

विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्देन मुच्यते ॥

(विवेक चूडामणि 62)

अर्थात्—औषध का पान (सेवन) किये बिना औषध-औषध जपने से व्याधि दूर नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा का अपरोक्ष अनुभव हुए बिना मैं ब्रह्म हूं, शुद्ध चेतन जीव हूं कहने-रटने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

अपरोक्ष अनुभव के लिए साधना-अभ्यास की आवश्यकता है और साधना-अभ्यास की परिपक्वता के लिए शुद्ध रहनी की, मन-वाणी-कर्म की शुद्धि-निर्मलता की आवश्यकता है। मन-वाणी-कर्म की निर्मलता, जीवन-आचरण की पवित्रता के बिना कोई कुछ भी कर ले, कहीं भी चला जाये न तो वह मानसिक तनाव, क्लेश, पीड़ा से छुटकारा पा सकता है और न सच्ची सुख-शांति-प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है। जैसे चेतन-जीव स्वरूपतः शुद्ध-बुद्ध है वैसे ही जब

मन-अंतःकरण शुद्ध हो जाता है तब कैवल्य की प्राप्ति होती है।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि कहते हैं—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ 3/55 ॥

ज्ञानी-अज्ञानी, साधु-गृहस्थ, पढ़-अपढ़ सब जानते हैं और कहते भी हैं कि शरीर हाड़-मांस का ढांचा है, मल-मूत्र का पिटारा है, सारे भोग नाशवान, क्षणभंगुर हैं, कोई किसी के साथ जाने वाला नहीं है, जीव के साथ एक तृण भी नहीं जाता है, यहां की मिली चीजें यहीं रह जायेंगी। फिर भी सब के सब इसी क्षणभंगुर-नाशवान दुनिया की मोह-माया, अहंता-ममता में आपादमस्तक डूबे हैं और मोर-तोर, राग-द्वेष की आग में निरंतर जल रहे हैं, तब इस ज्ञान की सार्थकता क्या हुई। यह तो सिर्फ तोतारटंत ही हुआ।

शरीर को हाड़-मांस का ढांचा, मल-मूत्र का पिटारा और दुनिया को नाशवान-क्षणभंगुर-झूठा कहने वाले बड़े-बड़े त्यागी-वैरागी, साधु-संन्यासियों को जब हाड़-मांस के ढांचा तथा मल-मूत्र के पिटारा शरीर के नाम-रूप की प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, पूजा-सत्कार के लिए और नाशवान-झूठी दुनिया की गद्दी-महंती के लिए हायतौबा, लड़ाई-झगड़ा, छल-कपट, मुकदमेबाजी करते देखा जाता है तब यह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि जंगल के या पिंजड़ों में बंद तोतों में और इनमें अंतर क्या है। बल्कि जंगल के तोतों से ये बड़े तोते हैं, क्योंकि जंगल-बाग के तोते तो स्वाभाविक रूप से नासमझ हैं, वे तो केवल रट सकते हैं, रटे हुए का अर्थ जानने की उनमें क्षमता ही नहीं है, परंतु ये तो सब कुछ जानते-बूझते हुए भी दैहिक नाम-रूप के मोह में एवं विषयासक्ति में रात-दिन धंसे जा रहे हैं और अपने कुकर्मा द्वारा समाज में गलत आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। सोचना तो यह है कि इन तोतों की भीड़ में हम भी शामिल तो नहीं हैं। यदि इस भीड़ में हम भी शामिल हैं तो हमारे ज्ञान-कथन का क्या मूल्य हुआ। शाब्दिक ज्ञान से दुख-मुक्ति नहीं होगी, दुख-मुक्ति तो होगी तात्त्विक ज्ञान से। तात्त्विक ज्ञान का अर्थ है जैसा ज्ञान

वैसा आचरण, जैसी कथनी वैसी करनी और रहनी। करनी और रहनी संयुक्त ज्ञान चुंबकीय हो जाता है और उसी से मानसिक शत्रुओं पर विजय मिलकर दुख-निवृत्ति होती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

जस कथनी तस करनी, जस चुंबक तस ज्ञान।

कहहिं कबीर चुंबक बिना, क्यों जीते संग्राम ॥

(बीजक, साखी 314)

करनी-आचरण संयुक्त ज्ञान का अर्थ है राग-द्वेष का त्याग। यदि राग-द्वेष का त्याग नहीं हुआ तो सारा ज्ञान तोतारटंत ही तो हुआ। इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं—जैसी कहै करै जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे।” ये राग-द्वेष ही भवसागर हैं, यम जाल हैं। बाहर न कहीं भवसागर है न यमजाल। तथागत बुद्ध के शब्दों में— नत्थि राग समो अग्गि नत्थि दोससमो कलि॥ धम्मपदं 202॥ अर्थात् राग के समान न कोई आग है और न द्वेष के समान कोई पाप है। इस राग-द्वेष का त्याग ही वास्तविक ज्ञान है। यदि राग-द्वेष का त्याग नहीं हुआ, बल्कि जीवनपर्यंत राग-द्वेष की आग में जलते-जलाते रहे और दूसरी तरफ निचोड़ कर ज्ञान की बातें कहते रहे तो यह अपने को ही धोखा देना हुआ। आचरण के बिना ज्ञान-कथन, शास्त्र-व्याख्यान, धर्मग्रंथों का पठन-पाठन केवल हवा में फूंक मारना है। ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हुए महाभारतकार कहते हैं—

वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम्।

एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥

(शांतिपर्व 270/42)

अर्थात्—जो वेदों को और उनके द्वारा जानने योग्य को ठीक से जानता है उसको वेदवेत्ता (वेद का ज्ञाता) कहते हैं। अन्य वेदपाठी तो मानो हवा छोड़ने वाले हैं।

वेद का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान का अर्थ है सत्य तत्त्व का ज्ञान और उसके अनुसार आचरण, उसमें स्थिति। जिसका आचरण सत्यतापूर्वक है और जो असत्य को छोड़कर सत्य में स्थित है वही वेद का असली ज्ञाता है भले उसे वेद पढ़ना न आता हो। महाभारतकार कहते हैं—सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥ सनत्सुजातीय

पर्व॥ अर्थात् जो सत्य में स्थित है वही वेद का ज्ञाता है। जो न सत्यतापूर्वक आचरण करता है और न सत्य में स्थित है केवल वेद पाठ मात्र या उसके व्याख्यान से कल्याण चाहता है, महाभारतकार की दृष्टि में वह 'वातरेचकः' मात्र हवा छोड़ने वाला है।

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं—

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम्।

प्रजारञ्जनमात्रं तत्र साम्राज्याय कल्पते॥

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्।

वैदुष्यं विदुषां मध्ये भुक्तये न तु मुक्तये॥

(विवेक चूडामणि)

अर्थात्—वीणा का रूप-सौन्दर्य और तंत्री बजाने का अच्छा तरीका केवल जनता के मनोरंजन के लिए है। इससे कोई साम्राज्य की प्राप्ति नहीं होती है। इसी तरह विद्वानों के बीच पण्डितों की वाणी-कुशलता, शब्दों की झड़ी, शास्त्रों पर व्याख्यान करने की प्रवीणता और विद्वता भोग के ही साधन होती हैं, मोक्ष के नहीं।

तात्पर्य है आचरण रहित तोतारटंत ज्ञान से लौकिक ऐश्वर्य, मान-प्रतिष्ठादि तो मिल सकते हैं, परन्तु वह दुख निवृत्ति में सहायक नहीं हो सकता।

सार यह है कि जिस प्रकार गायों को गिनने वाला चरवाहा गायों का मालिक नहीं होता, रुपयों को गिनने एवं उनकी व्यवस्था करने वाला मुनीम रुपयों का मालिक नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान की कथा, ज्ञान के ग्रन्थ कहने-सुनने-पढ़ने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। ज्ञानी तो वह है जो आचरणसम्पन्न-चरित्रवान-निर्मल जीवन है। आचरण और जीवन की निर्मलता के अभाव में सारा ज्ञान तोतारटंत है और तोतारटंत ज्ञान से किसी का कल्याण नहीं होता परन्तु आचरणसंयुक्त ज्ञान कल्याणकारी होता है। अतः जो कुछ हम जानते हैं विनम्रतापूर्वक उसका आचरण शुरू करें तब हमारा जानना-सुनना-कहना सार्थक होगा। आचरण का अर्थ है दोषों, दुर्गुणों, कल्मषों को त्यागकर मन-वाणी-कर्मों की शुचिता, निर्मलता।

—धर्मचंद्र दास

सीखो ऐ मन प्रेम की भाषा

रचयिता—डॉ. अमरनाथ सिंह

सीखो ऐ मन प्रेम की भाषा
पावन कर लो अन्तस अपना
पढ़ो प्रेम परिभाषा...सीखो ऐ मन...

बोझ घृणा का सिर मत लादो
बेचैनी ही तुम पाओगे।
ईर्ष्या द्वेष की फ़ितरत पाले
खुद ही जलते रह जाओगे।
जीना है सुखमय जीवन तो...
तजो स्वार्थ अभिलाषा...सीखो ऐ मन...

पवन प्रेम वश बहे निरन्तर
हर खेतों में बादल बरसे।
सूरज चमके नदी प्रवाहित
इनके प्रेम से हर कोइ हरषे।
वृक्ष किसी से कुछ नहीं लेता...
फल निःस्वार्थ लुटाता...सीखो ऐ मन...

प्रेम की राह में ध्यान रहे यह
महज दिखावा शेष नहीं हो।
आलस तजो तजो आसक्ती
अहंकार को लेश नहीं हो।
प्रेम जगत में सार है प्यारे...
गहो प्रकृति की भाषा...सीखो ऐ मन...

निश्छलता से हो हिरदै में
शुभ के लिए प्रवाह प्रेम का।
आदर्शों के साथ सदा अपनत्व
लिये निर्वाह प्रेम का।
नित गुलाब प्यार छलकाये...
काँटों में मुस्काता...सीखो ऐ मन...

मिली थी जिन्दगी,
किसी के काम आने के लिए।
पर वक्त बीत रहा है,
कागज के टुकड़े कमाने के लिए॥

—अज्ञात

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं!

लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट

बात है इसी नागपंचमी की।

दोपहर को भोजन करके लेटा ही था कि कमरे में धम्म से आवाज हुई। देखा, ऊपर दीवाल के मुक्के से बिल्ली कूदी।

और यह क्या?

उसके मुंह में दबा था एक कबूतर!

कुछ देर पहले कबूतरों की इधर-से-उधर भाग-दौड़े मैंने देखी थी। सोचा था कि वे आपस में विनोद कर रहे हैं। मुझे क्या पता था कि मौत को सिर पर मंडराते देखकर वे जीवन के लिए दौड़ादौड़ी मचाये हुए हैं। बिल्ली के पीछे दौड़ा कि वह कबूतर को छोड़ दे, पर वह भला क्यों छोड़ने लगी?

वह छत पर भागी। इधर-उधर खून के धब्बे पड़े थे, रास्ते में।

ऊपर की भण्डरिया में कबूतर को पंख फड़फड़ाते सुनकर बिल्ली को ललकारा तो वह उसे छोड़कर नीचे भागी।

जाकर देखा तो बेचारा कबूतर शान्त हो चुका था! बाबा कबीरदास मानो कान में आकर गुनगुनाने लगे—

मीचु बिलइया खैहे रे।

ऐशो इहु संसार, पेखना, रहन न कोऊ पइहै रे।

सूधे सूधे रेंग चलहु तुम, नतरु कुधका दिवइहै रे॥

बारे बूढ़े तरुने भइया, सभहू जम लै जइहै रे।

मानुस बपुरा मूसा कीनो, मीचु बिलइया खैहे रे॥

धनवंता अरु निरधन मनई, ताकी कछू न कानी रे।

राजा परजा सभ करि मारै, ऐसो कालु बडानी रे॥

जीवन का अन्तिम सत्य है मृत्यु!

संसार में और सब अनिश्चित है, निश्चित है केवल एक मृत्यु।

कहावत भी है कि 'इट इज ऐज श्योर ऐज डेथ।' 'मृत्यु की भांति निश्चित।'

रूप राशि पर गर्व न करना ओ फूलों की रानी।

समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी॥

×

×

×

लाख का घर पलभर में खाक हो जाता है। बने-बनाये महल आनन-फानन जमीन में लोटने लगते हैं। रूप-राशि, धन और यौवन, पद और सम्मान—सब कुछ देखते-देखते स्वाहा हो जाता है। पर वाह रे, कारीगर! धन्य है तेरी कला! तेरा चक्कर अब्दुत है। आदमी इसी गोरखधन्धे में फंसा इसी मायाजाल में डूबता-उतराता रहता है।

हम जाने थे खायेंगे, बहुत जमीं बहु माल।

ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकड़ ले गया काल॥

कालदेव आते हैं और पलभर में हमारी मुश्कें बांधकर चल देते हैं। न उनके आने की घड़ी निश्चित, न उनके आने का बहाना निश्चित।

कभी रोग है तो कभी बीमारी। कभी आग है तो कभी तूफान। कभी महामारी है तो कभी और कुछ। कभी सांप के रूप में वे काट खाते हैं तो कभी सिंह के रूप में फाड़ खाते हैं।

काल देव को न रहम है, न दया। घड़ी की सुई ठिकाने पर पहुंची नहीं कि बस, उन्होंने अपना फन्दा कसा। रहिये आप बड़े बहादुर, रहिये आप बड़े शूरवीर, रहिये आप लखपती-करोड़पती—उनके आगे आपकी दाल नहीं गल सकती। डॉक्टर और वैद्य, हकीम और तबीब, सुइयां और गोलियां—सब बेकार रहती हैं, बिलकुल बेकार। तभी तो—

आस पास जोधा खड़े सभी बजावें गाल।

मंझ महल से ले चला ऐसा काल कराल॥

भूलोक का सर्वोच्च अधिकारी है—यमराज। उसके आगे किसी की दाल नहीं गल पाती!

×

×

×

सोचने की बात है कि कैसा होता है वह दिन—
जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
घर के कहैं बेगि ही काढ़ौ, भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतम सों प्रीति घनेरी सोऊ देखि डरैहैं॥
भाई और बन्धु, हितू और मित्र, हाथ-पर-हाथ धरे
रह जाते हैं, कोई दवा काम नहीं करती।

माथा पकरि के माता रोवै भुहा पकरि के भाई।
लपट झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई॥

और फिर—

हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी को, केस जरै ज्यों घासा।
सोने जैसी काया जरि गइ, कोऊ न आयो पासा॥

सब कुछ, सारी धन-दौलत, सारी जर-जमीन, सारे
सगे-सम्बन्धी, यहीं छूट जाते हैं। श्मशान-मार्ग में कोई
साथ नहीं देता।

सब ठाठ पड़ा रह जायगा जब लादि चलेगा बनजारा।

× × ×

प्राण राम जब निकसन लागे

उलटि गयीं तब दोनों पुतरियाँ।

भीतर से बाहर जब लाये

छूटि गयीं सब महल अटरियाँ।

कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो

संग चली वह सूखी लकरियाँ॥

केवल थोड़ी-सी सूखी लकड़ियां लाश के साथ
जाती हैं। चिता में लगकर अग्नि की ज्वाला में वे भी
दो-तीन घण्टे के भीतर सोने-जैसी काया को राख के
रूप में बदलकर स्वयं भी भस्म हो जाती हैं।
कपालक्रिया करके सगे-सम्बन्धी रोते-पीटते घर लौट
आते हैं।

बस, जीवन के पर्दे का पटाक्षेप हो जाता है।

× × ×

विश्व का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव, छोटा हो या
बड़ा काल का कलेवा है!

आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर।

फर्क इतना ही है कि—

एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बँधे जंजीर॥

सब जानते हैं और अच्छी तरह जानते हैं कि मौत
आयेगी, एक रोज वह जरूर आयेगी, उससे किसी तरह
छुटकारा हो नहीं सकता, परंतु कितने आश्चर्य की बात है
कि हम ऐसा मान बैठे हैं कि मौत से हमसे कोई वास्ता
ही नहीं!

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।

शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(युधिष्ठिर—महाभारत 3/313/116)

'दूसरे लोग रोज मरते जाते हैं, पर हम तो कभी
मरेंगे ही नहीं—ऐसा हम मान बैठे हैं!' कूच के नक्कारे
बज रहे हैं। विश्व की धर्मशाला में आनेवाले-जानेवाले
यात्रियों की रेलपेल मची है, पर हमें अपनी कोई परवाह
ही नहीं।

अजब सरा है ये दुनिया कि जिसमें सहरो शाम,

किसी का कूच, किसी का मुकाम होता है!

× × ×

कोई आ रहा है, कोई जा रहा है।

किसी के स्वागत की शहनाई बज रही है, किसी की
बिदाई का मर्सिया पढ़ा जा रहा है।

रोज आठ पहर, चौंसठ घड़ी यह तमाशा चल रहा
है। हम सबका स्वागत करते हैं, सबको विदाई देते हैं,
पर यह नहीं सोचते कि अपना नम्बर भी आनेवाला है।
हमें भी कोई पुकारकर कहता है—

कदम सूए मरकद, नजर सूए दुनिया,

किधर देखते हो, कहां जा रहे हो?

पर हम हैं कि जान-बूझकर अपनी आंखें नहीं
खोलते!

हमने जान-बूझकर अपनी आंखों पर पर्दा डाल
रखा है। ऐसा न होता तो क्या हमें इस क्षणिक, मिट्टी के
खिलौने पर इतना गर्व होता? इस शरीर पर, इस पानी
भरी खाल पर इतना अहंकार होता?

× × ×

रामकृष्ण परमहंस कहते थे—

‘भगवान् दो मौकों पर हंसते हैं। एक तो तब, जब दो भाई रस्सी लेकर जमीन को नापते हैं और कहते हैं—‘इतनी जमीन ‘मेरी’ है, इतनी ‘तेरी’ और दूसरे तब, जब कालदेव सिर पर खड़े हैं और डॉक्टर कहता है—‘मैं इस रोगी को बचा लूंगा!’

× × ×

स्त्रियों और पुरुषों को, हर उम्र के लोगों को, छोटे से दुधमुंहे बच्चों को, जवानों और बड़ों-बूढ़ों को मैंने दम तोड़ते देखा है। उनकी शवयात्रा के साथ श्मशान जाने के जीवन में अनेक मौके आये हैं। कभी हितू-मित्रों की, सगे-सम्बन्धियों की, परिचितों की शवयात्रा के साथ गया हूँ, तो कभी यों ही मणिकर्णिका का दृश्य देखने चला गया हूँ। रास्ते में पिण्डदान करते समय पुरोहित कहता है—‘श्मशान-मार्ग में यह पिण्ड दिया जा रहा है।’ सोचता हूँ शव की यात्रा तो सभी राजपथों से होती है, तो जिधर देखिये उधर श्मशान-मार्ग ही तो है!

और श्मशान में देखिये—

कहीं किसी की चिता लगायी जा रही है, कहीं किसी के बच्चे का जलप्रवाह किया जा रहा है। कहीं चिता सुलग रही है, कहीं चिता धधक रही है। कभी-कभी तो 10-10, 15-15 चिताएं एक साथ धधकती हैं। कहीं हड्डियां पड़ी हैं, कहीं खोपड़ी। कहीं कौए हैं, कहीं गीध हैं, कहीं कुत्ते हैं—लाशों को नोच रहे हैं। सगे-सम्बन्धी बिलखते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं।

जगत् की नश्वरता, क्षणभंगुरता का यह सारा दृश्य देखकर जी भर आता है। आंखें भर आती हैं। कभी-कभी फूट-फूटकर रोने को भी जी मचलने लगता है।

परंतु? कितनी देर टिकता है यह श्मशान-वैराग्य? घाटपर ही मन तरह-तरह के सब्जबाग दिखाने लगता है—‘अरे मूर्ख, जो गया सो गया। मौत आयेगी, तब देखा जायेगा। अभी से उसकी चिन्ता क्यों करता है? जीवन तेरे सामने है। जीवन के नाना प्रकार के भोग तेरे सामने हैं। उनका मजा ले। दुनिया के बाग की बहार लूट। यह बहार चन्द्रोजा है तो भी क्या? सुख क्षणिक है तो भी क्या?’

मन की ये लंतरानियां श्मशानघाट पर भी अपनी रौनक दिखाती हैं। जीवन के परम सत्य को देखकर भी हम उससे आंखें मूंद लेते हैं। प्रेय के चक्कर में पड़कर श्रेय को सर्वथा भुला बैठते हैं।

हमारी भोगासक्ति यहीं तक नहीं रुकती। हम ‘मौत’ का नाम तक लेना नहीं पसन्द करते। मौत के नाम से डरते हैं!

किसी शव को सड़क पर जाते देख माताएं अपने बच्चों को ढक लेती हैं—कहीं उन पर मृत्यु की छाया न पड़ जाये।

कैसा प्रबल चक्र है मोह और ममता का!

× × ×

पर, चाहे जितनी पेशबन्दी करिये, मौत के नाम को भी कानों में मत पड़ने दीजिये, पर मौत कभी पीछा छोड़नेवाली है नहीं।

कहते हैं कि लकड़ी का बोझा ढोनेवाला एक बूढ़ा एक दिन थककर बोल पड़ा—‘क्या बताऊं, मौत भी तो नहीं आती।’ और तभी सचमुच मौत सामने आ खड़ी हुई।

बोली—‘बाबा, क्यों याद किया है मुझे?’

‘कौन है तू?’—बूढ़े ने पूछा।

‘मैं हूँ मौत।’

बूढ़ा बेचारा सन्न रह गया।

पर दूसरे ही क्षण बोल उठा—‘मैंने तुझे इसलिए थोड़े ही बुलाया था कि तू मुझे यमराज के घर ले चल। मैंने तो इसलिए बुलाया कि जरा मेरे बोझे में हाथ लगाकर इसे मेरे सिर पर रख दे।’

हम इसी तरह की बातें करके मौत को बहला देना चाहते हैं, पर वह भला हमारे ऐसे चकमों में कभी आनेवाली है? तभी तो कबीरदास ठोक-ठोककर चेतावनी देते हैं—

जिअरा तुम जैहो हम जानी।

राज करंते राजा जैहैं रूप धरंती रानी॥

राज समान सभासद जैहैं, जैहैं सब अभिमानी॥

बेद पढ़ंते पंडित जैहैं, कथा सुनंते ध्यानी॥

जोग करंते जोगी जैहैं, ज्ञान रटंते ज्ञानी॥

चंदा जैहें, सूरज जैहें, जैहें पवन अरु पानी॥
मन औ बुद्धी दोनों जैहें, जैहें सकल परानी॥
जोगी जैहें, जंगम जैहें, जैहें जन धन मानी॥
कहैं 'कबीर' हरिजन ना जैहें, जिनकी मति ठहरानी॥
मतलब?

जाना सबको है। जिसने भी शरीर धारण किया है,
उसे जाना है। तब बचेगा कौन?

बचेंगे वही—'जिनकी मति ठहरानी।'

—जिनकी बुद्धि स्थिर है, जिनकी प्रज्ञा स्थिर है,
जो स्थितप्रज्ञ हैं—केवल वे ही बचेंगे। शरीर तो उनका
भी जायेगा, पर वे मरेंगे नहीं। जन्म और मृत्यु का
बन्धन उन्हें बांध नहीं सकेगा। उन्हें कष्ट नहीं दे सकेगा,
व्यथित और पीड़ित नहीं कर सकेगा।

मौत से बचने का एकमात्र उपाय है—मृत्यु के
रहस्य को समझ लेना। जो अनिवार्य है, उसका सामना
करना ही है। तो क्यों न हम हंसते-हंसते उसका स्वागत
करें?

मौत इक बार तो आना है तो डरना क्या है?

हम सदा खेल ही समझा कि ये मरना क्या है?

बुद्धि को स्थिर रखने का हम अभ्यास करें तो मौत
भी हमारे लिए एक खेल की वस्तु बन जायेगी।

महात्मा गांधी से लोग समय-समय पर मृत्यु के
विषय में पूछते रहते थे। उनके उत्तरों से हम सब प्रेरणा
ले सकते हैं—

1. 'हम ईश्वर को पहचानते हैं तो मृत्यु में आनन्द
मानना सीखना ही चाहिए।'

(पत्र राजाजी को, 26-7-1932)

2. 'मैं मृत्यु को भयानक चीज नहीं समझता।
विवाह भयानक हो सकता है, मृत्यु कभी नहीं।'

चांदा, 14-11-33

(बापू के पत्र मणिबहन पटेल के नाम)

3. 'ईश्वर के कालरूप का मनन करने से और
उसके मुख में सृष्टि मात्र को जाना है, प्रतिक्षण काल का
यह काम चलता ही रहता है—इसका भान हो जाने से,
सर्वार्पण और जीव मात्र के साथ ऐक्य अनायास हो

जाता है। चाहे-अनचाहे इसके मुख में हम अकल्पित
क्षण पड़ने वाले हैं। वहां छोटे-बड़े का, नीच-ऊंच का,
स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रहता।
कालेश्वर के एक कौर हैं—यह जानकर हम क्यों दीन
शून्यवत् न बनें? क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा
करनेवाले को यह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि
शान्तिस्थल लगेगा।' (गीताबोध)

4. 'जो मृत्यु चाहे जब छोटे-बड़े, गोरे-काले,
मनुष्य-पशु या दूसरे सबके लिए आती ही है, उसका डर
क्या? और उसका शोक भी क्या? मुझे तो बहुत बार
ऐसा लगता है कि जन्म की अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी
चीज होनी चाहिए। जन्म से पहले नौ महीने यातनाएं
भोगनी पड़ती हैं और जन्म के बाद भी अनेक दुःख हैं,
जबकि कुछ को मृत्यु के अवसरपर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त
होती है। इस प्रकार की मृत्यु प्राप्त करने के लिए जीवन
अनासक्तियुक्त कामों में बीतना चाहिए।'

(पत्र सेठ जमनालाल बजाज को, 8-11-32)

5. 'मृत्यु के भय को दूर करने के लिए मनोविकारों
को नष्ट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए और
प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। ऐसा करने से वे दूर हो
जायेंगे। नहीं तो, वह बात चरितार्थ होगी कि बन्दर का
स्मरण न करने के प्रयत्न में उसका खयाल बना ही
रहा।'

(केपटाउन 7-3-14, पत्र रावजी भाई पटेल को)

6. 'जन्म और मृत्यु—दोनों ही महान् रहस्य हैं।
यदि मृत्यु दूसरे जीवन की पूर्व-स्थिति नहीं है तो बीच
का समय एक निर्दय उपहास है। हमें यह कला सीखनी
चाहिए कि मृत्यु किसी की और कभी भी हो, हम उसपर
हर्गिज रंज न करें। मेरे खयाल में ऐसा तभी होगा जब
हम सचमुच ही अपनी मृत्यु के प्रति उदासीन होना
सीखेंगे और यह उदासीनता तब आयेगी, जब हमें हर-
क्षण यह भान होगा कि हमें जो काम सौंपा गया है, उसे
हम कर रहे हैं। लेकिन यह कार्य हमें कैसे मालूम
होगा? वह ईश्वर की इच्छा को जानने से मालूम होगा।
ईश्वर की इच्छा का पता चलेगा—प्रार्थना और सदाचरण
से।' (बाबू के पत्र मीरा के नाम)

7. 'यह बात गीता में ही मिलती है कि मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए।'

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ (2/16)

इस श्लोक में मृत्यु का सारा रहस्य भरा हुआ है।

अनेक श्लोकों में बार-बार कहा गया है कि शरीर 'असत्' है। 'असत्' का अर्थ 'माया' नहीं, ऐसी वस्तु नहीं जो कभी किसी रूप में उत्पन्न न हुई हो; बल्कि उसका अर्थ है क्षणिक, नाशवान्, परिवर्तनशील। फिर भी हम अपने जीवन का सारा व्यवहार यह मानकर चलाते हैं, मानो हमारा शरीर शाश्वत है। हम शरीर को पूजते हैं, शरीर के पीछे पड़े रहते हैं। यह सब हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म में यदि कोई बात चांदनी की तरह स्पष्ट कही गयी है तो वह है—'शरीर और दृश्य पदार्थों की असत्ता।' फिर भी हम जितना मृत्यु से डरते हैं, रोते-पीटते हैं, उतना शायद ही कोई करते हों।

महाभारत में तो यह कहा गया है कि रुदन से मृत आत्मा को संताप होता है और गीता इसीलिए लिखी गयी है कि लोग मृत्यु को कोई भी भीषण वस्तु न मानें। मनुष्य का शरीर काम करते-करते थक जाता है। अनेक शरीर तो मृत्यु के द्वारा दुःख से मुक्त होते हैं। गीता हमें सिखाती है और मैं प्रतिदिन इस पाठ को समझता जा रहा हूँ कि अशाश्वत वस्तु के लिए की गयी सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।

'असत् का भाव'—इसका अर्थ है—अस्तित्व का न होना और जो सत् है, उसका नाश कभी नहीं हो सकता।

गीता इस श्लोक में पुकार-पुकारकर कहती है कि हम अपने जीवन में सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें। अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है। क्रोध असत् है। काम, मोह, मद आदि असत् हैं। हमें इन तमाम सर्पों का सत्र करना है। स्थूल सर्प तो बेचारा केवल शरीर को कष्ट देता है, पर ये सर्प तो हमारी रग-रग में पहुंच जाते हैं और हमारी आत्मा को भी हानि पहुंचाने की धमकी देते हैं। परंतु आत्मा को हानि नहीं

पहुंच सकती। वह अविनाशी है। यदि हम इस बात को समझ लें कि सत् क्या है तो जन्म-मृत्यु का रहस्य भी समझ जायेंगे।

जिस प्रकार रसायनशास्त्री कहते हैं कि जब मोमबत्ती जलती है, तब उसकी किसी वस्तु का नाश नहीं होता; उसी प्रकार जब शरीर मरता है और जलता है, तब कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितियां हैं। किसी स्वजन के मरणपर हम जो रोते-चीखते हैं, उसका कारण है—स्वार्थ।'

(हि. नवजीवन 30-7-35)

बापू के इन अनमोल उपदेशों को हम हृदय में धारण कर लें तो हमारा बेड़ा पार हो जायेगा। सच बात तो यह है कि हमारी बुद्धि स्थिर हो; मोह और ममता, राग और द्वेष के चक्कर से हम अपने को मुक्त कर लें; फिर तो मौत का सारा डर ही दूर हो जायेगा।

और वह दूर हुआ कि हमारा सारा जीवन ही पवित्र और आनन्दमय बन जायेगा; साथ-ही-साथ मृत्यु भी।

दूसरी दृष्टि से सोचें तो मृत्यु का भय यदि वस्तुतः हमें आक्रान्त कर ले, तब भी काम बन सकता है। फिर तो हमें सच्चे वैराग्य की प्राप्ति हो जायेगी। 'मौत सिरपर लटक रही है'—इतना विश्वास दृढ़ हो जाये तो फिर हमसे कोई गलत काम होगा ही कैसे? कोई पाप हमसे बनेगा ही कैसे? किसी को हम सतायेंगे ही कैसे, जब कि हम जानते हैं कि पता नहीं कल का सूर्योदय हम देख सकेंगे भी या नहीं।

पर इस भय को हम आंख मूंदकर टाल देते हैं, किंतु हम लाख टालें, वह टलनेवाला है नहीं। तब बुद्धिमानी इसी में है कि हम जीवन के रहे-सहे क्षणों को जीवन के एकमात्र चरम लक्ष्य प्रभुप्राप्ति के लिए ही प्रभु के चरणों में अर्पित कर दें। हम जो कुछ करें, सो सब प्रभु-पूजा ही हो। प्रभु से हमारी एक ही प्रार्थना हो कि 'नाथ! जीवन की अन्तिम बेला में तुम ही मेरे समक्ष हो।'

फिर तो धन्य और पवित्र हो जायेगा हमारा जीवन और धन्य तथा पवित्र हो जायेगी हमारी मृत्यु!

(कल्याण, सितम्बर 2018 से साभार)

क्या वेद नसली वर्गीकरण का गवाह है?

लेखक—श्री धर्मदास

(गतांक से आगे)

पं. शिवशंकर शर्मा का कथन—“इस हेतु आप इस बात पर ध्यान दें कि यह “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्” ऋचा किस अवसर पर कही गई है। इस मंत्र के पहले एक प्रश्न किया गया है। उसके समाधान में इस ऋचा को कहा है।

प्रश्न यह है—मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमुरु पादा उच्यते। (यजु. 31/10), इसका शब्दार्थ यह है : ‘इसका मुख कौन है, दोनों बाहु कौन है, दोनों ऊरु कौन है और इसके दो पैर कौन हैं?’ किसी प्रश्न में नहीं पूछा गया कि ब्राह्मण किस अंग से उत्पन्न हुए थे, क्षत्रियादि किस अंग से उत्पन्न हुए। इसी प्रश्न का उत्तर है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥

(यजु. 31/11)

अस्य+मुखम् + ब्राह्मणः+आसीत् = इसका मुख ब्राह्मण है। बाहू+ राजन्यः+कृतः=दोनों बाहु क्षत्रिय हैं। यद्+वैश्यः=जो वैश्य है। तद् + ऊरु=वह इसके दोनों ऊरु हैं। पदभ्याम् + शूद्र+ अजायत= दोनों पैर शूद्र हैं। इस प्रकार अर्थ करने से प्रश्नों का ठीक समाधान हो सकता है।¹

आगे लिखते हैं : “(1) ब्रह्मा से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई यह वेद का सिद्धान्त नहीं है। (2) वेदों पर टिप्पणिका करनेवाले ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और गोपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में मुखादिक से उत्पत्ति का वर्णन कहीं भी नहीं है। (3) जैसे आधुनिक ग्रन्थों में ब्राह्मण के लिए अग्रज, मुखज, आस्यज आदि, क्षत्रिय के लिए बाहुज, करज आदि, वैश्य के लिए ऊरुज, मध्यज आदि और शूद्र के लिए पादज, चरणज, जघन्यज आदि शब्द पाये जाते हैं, प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे शब्द कहीं नहीं

मिलते। इन अनेक कारणों से सिद्ध है कि मुखादिक अंगों से ब्राह्मणादि वर्णों की सृष्टि मानना सर्वथा वेदविरुद्ध है।²

“ऋग्वेद 10/90/12 में वही मंत्र है: “ब्राह्मणोऽस्य...कृतः। ऊरु तदस्य...अजायत। यजुर्वेद और सामवेद में भी यही पाठ है परन्तु, अथर्ववेद में कुछ भेद है, यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।

मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥

(अथर्व. 19/6/6)

वेदों में अलंकाररूप में वर्णन बहुत आता है। यह भी एक आलंकारिक वर्णन है। भगवान का अभिप्राय वा संकेत है कि सर्वप्रथम संसार में जीवनोपाय-निमित्त मनुष्यों को चार भागों में विभक्त करना चाहिए। जो मुख का काम करे वह ब्राह्मण, जो बाहु का काम करे वह राजन्य, जो शरीर के मध्यभाग का काम करे वह वैश्य और जो पैर का काम करे वह शूद्र के नाम से पुकारा जाए।³

“ब्रह्मा के अथवा ईश्वर के मुखादि अंगों से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति हुई है”, ऐसा मत देश में कब से प्रारम्भ हुआ, इसका पता लगाना भी कुछ कठिन नहीं है यदि आर्ष (ऋषि से संबंधित) और अनार्ष ग्रंथों में थोड़ा-सा भी हमलोग परिश्रम करें। प्रथम तो आर्षग्रंथों में चतुर्मुख ब्रह्मा की कहीं भी चर्चा नहीं और दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि कोई व्यक्ति विशेष नहीं हैं। वायु के स्थान में ब्रह्मा एक कल्पित देव पौराणिक समय में माना गया है। इस हेतु आर्षग्रंथ जिस समय बने थे, उस समय तक यह मत देश में प्रचलित नहीं हुआ था, यह सिद्ध होता है। अन्य प्रकार से भी

1. जाति-निर्णय, पृ. 147-481

2. वही, पृ. 149-501

3. वही, पृ. 1501

इसकी परीक्षा कर सकते हैं। बहुत-से इतिहासों का पता केवल शब्दों के द्वारा ही लग सकता है। उदाहरण के लिए 'हिन्दू' और 'स्कूल' शब्द को लीजिए। वेद से लेकर कालिदास के ग्रन्थ पर्यन्त 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु मुसलमानों के आगमन के पश्चात् के ग्रन्थों में 'हिन्दू' शब्द का और अंग्रेजों के आने के पश्चात् के ग्रन्थों में 'स्कूल' शब्द का प्रयोग है। इससे सिद्ध होता है कि मुसलमानों के आगमन के पश्चात् यहां के लोग 'हिन्दू' कहलाने लगे और अंग्रेज के राज्य में 'स्कूल' शब्द का प्रचार हुआ है। इसी प्रकार 'मुखज', 'बाहुज' आदि शब्दों से उस विषय का निर्णय हम सहजतया कर सकते हैं।¹

“आजकल ब्राह्मणवर्ण के लिए मुखज, अग्रज, अग्रजन्मा, आस्यज आदि, क्षत्रिय के लिए बाहुज, करज, बाहुजन्मा आदि, वैश्य के लिए ऊरुव्य, ऊरुज, ऊरुजन्मा, मध्यज आदि और शूद्र के लिए पज्ज, पादजन्मा, चरणज, अन्त्यज आदि शब्दों के प्रयोग देखते हैं यथा—

“आश्रमोऽस्त्री द्विजात्यग्रजन्म भूदेववाडवाः।”—

द्विजाति, अग्रजन्मा, भूदेव और वाडव इत्यादि ब्राह्मणों के नाम। “मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्”—मूर्धाभिषिक्त, राजन्य, बाहुज क्षत्रिय के नाम, “ऊरुव्या उरुजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः”—ऊरुव्य, ऊरुज, अर्य, वैश्य, भूमिस्पृक और विशः आदि वैश्य के नाम, शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः”—शूद्र, अवरवर्ण, वृषल और जघन्यज शूद्रों के नाम हैं। यह अमरकोष का वचन है। यहां अग्रजन्मा, बाहुज, ऊरुज और जघन्यज अर्थात् पादज शब्द के प्रयोग हैं।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः॥ मनु॥

अग्रजन्मा (अग्रजन्म यस्य सः अग्रजन्मा), सबसे पहले है जन्म जिसका, उसे अग्रजन्मा कहते हैं, अर्थात् ब्राह्मण के अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह ये छः कर्म हैं।

‘वत्स वाराणसी गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ।

तत्र नाम्ना दिवोदासः काशिराजोऽस्ति बाहुजः॥’

यह वचन भावप्रकाश का है। हे वत्स! काशी जाओ। वहां 'बाहुज' अर्थात् क्षत्रिय, दिवोदास राजा रहता है।

“रजकश्चर्मकारश्च नटो वरुड एव च।

कैवर्तभेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः॥”

इति यमवचनम् ॥’

“प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः॥” मनु॥’

“अन्त्यजातिरविज्ञतो निवसेद्यस्य वेशमनि॥”

—प्रायश्चित्त तत्व।

रजक, चर्मकार, नट, वरुड, कैवर्त, भेद, भिल्ल ये सातों अन्त्यज हैं, इत्यादि। अनेक स्थानों में अग्रजन्मा, बाहुज आदि शब्द मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थों की रचना के समय में मुखादि से उत्पत्ति मानने का सिद्धान्त चल पड़ा था, क्योंकि उस अर्थ के सूचक अग्रजन्मादि शब्द भी विद्यमान हैं, परन्तु न तो चारों वेदों में और न उपनिषत्पर्यन्त वैदिक आर्षग्रन्थों में अग्रजन्मा, बाहुज, ऊरुज और अन्त्यज ये चारों शब्द अथवा इस प्रकार के कोई शब्द हैं। इससे स्वतः सिद्ध है कि वेद से लेकर आर्षग्रन्थों की रचना के समय तक मुखादि से उत्पत्ति मानने का मत देश में नहीं चला था।²

वस्तुतः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद' की कल्पना का आधार ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है जिसमें सृष्टि की कल्पना की गई है। प्रथम मंत्र है : “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्य-तिष्ठदशाङ्गुलम्” (ऋ. 10/90/1)—यह मंत्र नारायण नामक ऋषि की रचना है। “विराट पुरुष के हजार सिर, हजार आंखें तथा हजार पैर हैं। वह पृथ्वी को सब ओर से घेरकर दस अंगुल के ऊपर बैठा है।” इसका ग्यारहवां मंत्र है—‘यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्यते ॥’ (ऋ. 10/90/11)—जो विराट पुरुष उत्पन्न

1. वही, पृ. 177-78।

2. वही, पृ. 178-79।

किया गया, उसके विषय में कितनी भ्रांति कल्पना की गई? उसका मुख क्या है? हाथ कौन है? जांघें कौन हैं? और उसके पाद कौन कहलाते हैं? बारहवां मंत्र है— “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्ब्राह्म राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥” (ऋ. 10/90/12)— ब्राह्मण उसका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जंघे और शूद्र पैर से पैदा हुए।

संत श्री अभिलाष साहेब का मत है कि “विराट पुरुष की कल्पना उसके तीन पाद अमृत में तथा एक पाद जगत सृष्टि में रहना, पैदा होने उसका विभक्त होने लगना...आदि एक मिलित-जुलित मनोरंजक कल्पना है। इसमें सार यही है कि प्राणियों का समूह ही विराट स्वरूप है।”¹

डॉ. बी.आर. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक ‘शूद्रों की खोज’ में पुरुष सूक्त के मंत्र 1 से 16 तक का अर्थ दिया है। मंत्र 1, 11 और 12 के अर्थ वही हैं जैसा ‘वेद क्या कहते हैं?’ में किया गया है।

डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रस्तुत विवेचना के कुछ अंशों पर एक नजर :

1. “‘पुरुष सूक्त’ विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। दूसरे शब्दों में, यह एक सृष्टि मीमांसा है। चिन्तन की उन्नत अवस्था तक पहुंचे प्रत्येक राष्ट्र ने किसी न किसी प्रकार की सृष्टि मीमांसा विकसित की है।

2. सृष्टि मीमांसाएं सदैव शैक्षिक रुचि का विषय ही रही हैं और उन्होंने केवल शिक्षार्थियों की जिज्ञासा को शांत करने और बच्चों का मनोरंजन करने से अधिक और कुछ नहीं किया है। यह बात पुरुष सूक्त के कुछ अंशों के संदर्भ में तो सही हो सकती है, किन्तु यह पूरे पुरुष सूक्त के बारे में सही नहीं हो सकती।

3. स्रोत 11 और 12 को छोड़ अन्य स्रोतों को शैक्षिक रुचि का माना जा सकता है। किन्तु 11 और 12 की बात अलग है। पहली दृष्टि में देखने पर स्रोत बस यह बताते हैं कि चार वर्गों अर्थात् (1) ब्राह्मण अथवा पुरोहित, (2) क्षत्रिय अथवा सैनिक, (3) वैश्य अथवा

व्यापारी, और शूद्र अथवा दास की उत्पत्ति स्रष्टा (ब्रह्मा) के शरीर से किस प्रकार हुई।

4. यह मानना भयंकर भूल होगी कि भारतीय-आर्य लोग इन्हें एक कवि की कपोल-कल्पना मानते थे। उन्हें स्रष्टा के इस अपरिहार्य आदेश के रूप में देखा जाता है कि समाज का गठन सूक्त में उल्लिखित चार वर्गों के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

5. उपर्युक्त स्रोतों की रचना में प्रयुक्त भाषा शायद उसके अनुकूल न हो। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि पारंपरिक रूप में इन स्रोतों को इसी अर्थ में लिया गया है, और यह कहना सचमुच मुश्किल होगा कि यह पारंपरिक रचना सूक्त के लेखक के अभिप्राय से मेल नहीं खाती है। इसलिए पुरुष सूक्त के स्रोत 11 और 12 मात्र सृष्टि मीमांसा (विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त) नहीं है। उनमें यह दैवीय अथवा ईश्वरीय आदेश निहित है कि समाज का गठन एक विशिष्ट रूप में होना चाहिए।

6. एक दैवीय निर्देश के रूप में यह स्वाभाविक तौर पर भारतीय आर्य-समुदाय का आदर्श बन गया। चातुर्वर्ण्य आदर्श का यही सांचा था जिसमें भारतीय-आर्य समुदाय अपनी प्रारंभिक अथवा तरल अवस्था में ढला था। वही वह सांचा है जिसने भारतीय-आर्य समुदाय को उसका विशिष्ट रूप और ढांचा प्रदान किया।

7. चातुर्वर्ण्य के इस आदर्श सांचे के प्रति भारतीय-आर्य समुदाय की यह जो श्रद्धा थी वह संदेह से परे तो है ही, यह अवर्णनीय भी है। भारतीय आर्य समुदाय पर इसका गहरा और अमिट प्रभाव रहा है।²

डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं : “दसवां मंडल पीछे से जोड़ा गया प्रतीत होता है।”³ रामशरण शर्मा लिखते हैं : “वैदिक साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम है। इसकी रचना ई.पू. 1500 के लगभग या उससे पहले हुई। ऋग्वेद के प्रथम और दशम मंडल बहुत बाद के माने जाते हैं और इनमें बहुत-सी ऋचाएं मिलती हैं। दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मण विराट पुरुष के सिर से

1. वेद क्या कहते हैं? पृ. 62-63।

2. ‘हू वेयर दी शूद्राज?’-शूद्रों की खोज, पृ. 30-31।

3. भारतीय दर्शन, भाग-1 पृ. 53।

पैदा हुआ, राजन्य (क्षत्रिय) उसके बाहु से निकला, वैश्य उसकी जांघ से निकला और शूद्र उसके पैर से निकला। इस उक्ति को प्रक्षिप्त माना गया है। इसके आधार पर कोई यह नहीं कह सकता है कि वर्णव्यवस्था ऋग्वेद काल से चली आ रही है। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से खेती के विषय में अधिक जानकारी 10वें मंडल में मिलती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन पुस्तकों में आसानी से प्रारम्भ या अंत में जोड़-तोड़ किया जा सकता था, इसलिए वैदिक साहित्य या इस प्रकार के अन्य साहित्य के अध्ययन में ग्रन्थ के विभिन्न सुस्पष्ट स्तरों पर बराबर ध्यान रखना पड़ेगा, नहीं तो इतिहास निर्माण सही ढंग से नहीं हो पाएगा।¹

15. ब्रिटिश हुकूमत में नस्ल सिद्धांत के द्वारा ऊंची और नीची जातियों के बीच समाज का विभाजन—

1856 ई. में भारत सरकार को कराची और लाहौर के बीच रेलवे लाइन बनवाने के लिए ईंटों की आवश्यकता हुई। इंजीनियरों ने आस-पास के खंडहरों से ईंटें खोदना प्रारम्भ किया। इन्हीं खंडहरों में मुल्तान जिले का हड़प्पा नामक स्थान का खंडहर भी था। उसी खंडहर के नीचे सिन्धु-सभ्यता की बहुमूल्य सामग्री दबी पड़ी थी। हड़प्पा का उत्खनन 1920 में प्रारम्भ हुआ। इनके उत्खनन कार्य तथा अनुसंधान से सिद्ध हो गया कि ईसा से कई हजार पूर्व हड़प्पा का नगर एक अति उच्च कोटि की सभ्यता का केन्द्र था। हड़प्पा से लगभग 400 मील की दूरी पर सिन्धु में मोहन जोदड़ो नामक एक दूसरा नगर है। मोहन जोदड़ो से 80 मील दूरी पर चन्हूदड़ो नामक नगर में खुदाई की गई। इन समस्त अनुसंधानों से सिन्धु-सभ्यता के उदय-विलय, विस्तार, प्रकार, काल आदि महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ता है।²

“भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में सिन्धु या हड़प्पा सभ्यता का उदय हुआ जो समकालीन मिश्र एवं मेसोपोटामिया सभ्यता के क्षेत्रफल से अधिक क्षेत्र में फैला था। इस सभ्यता का प्रकाशन 1921 ई. में हुआ

जो पंजाब के कुछ हिस्सों, हरियाणा, सिन्ध, बलूचिस्तान, गुजरात, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों तक फैला था तथा उन कबीलों या जातियों के साथ रहा करते थे जो शिकार करके अपना भोजन जुटाया करते थे या घुमन्तु पशुचारी थे।³ जब तक हड़प्पण गूढ़-लिखावट का अर्थ नहीं निकल जाता तब तक हड़प्पण सामाजिक संगठन का निष्कर्ष अटकलबाजी ही रहेगी।⁴ ‘विद्वानों में इस बात की सहमति प्रतीत होती है कि ई.पू. द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में नगरीय चरण का अंत हो गया। 1800 ई. पू. के लगभग हड़प्पण शहरें लगभग उजड़ चुकी थीं।⁴

इससे विदित होता है कि सिन्धु-सभ्यता का जब अन्त हुआ तब आर्य-वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ हुआ जिसका ऋग्वेद हमें उपलब्ध है। इसकी रचना काल का ज्ञान-विज्ञान एवं संस्कृति का उद्घाटन इसी से हुआ। अबतक हमें भारतीय सामाजिक संगठन का जो भी ज्ञान हासिल हुआ है वह ऋग्वेद से हुआ है। ऋग्वेद वैदिक ग्रंथों में सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त जो पश्चात्कालीन प्रक्षेप सिद्ध हो चुका है—हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से सामाजिक विभाजन की परिकल्पना से अवगत कराता है। पश्चात्कालीन ग्रंथों, जिसमें तीनों वेदों—यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई थी, में वर्णव्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी। ‘ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भांति अथर्ववेद भी क्षत्रिय (राजन्य), वैश्य, शूद्र और आर्य इन चार सामाजिक विभागों का उल्लेख करता है। यहां कदाचित आर्य से सर्वश्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण का बोध होता है। पुरुष सूक्त को छोड़ कर ऋग्वेद में कहीं पर भी शूद्र शब्द का प्रयोग नहीं मिलता परन्तु पश्चात्कालीन ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद रथकार और सूत का वर्णन करता है। तैत्तिरीय संहिता में क्षत जाति का उल्लेख है। इसी में संग्रहीत, तक्षण (बढ़ई), कुम्भकार, कुलाल,

2. एंसिक्लॉपिडिया, डी.एन. झा, पृ. 301

3. वही, पृ. 331

4. वही, पृ. 391

1. प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 281

कर्मार, पुंजिष्ट, इषुकृत, धन्वकृत, मगयु, श्वनि आदि व्यवसायियों का भी उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव नामक अनार्य जातियों का भी उल्लेख मिलता है।¹ इन ग्रंथों में ब्राह्मण को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अंतर्गत सर्वश्रेष्ठ घोषित करने का प्रयास है किन्तु 'अनार्य', 'दस्यु' और 'दास' अथवा 'राक्षस' आदि समूहों के साथ 'अयज्वा' विशेषण आया है जिसका अर्थ है जो यज्ञ करने वाले नहीं हैं या यज्ञ के विध्वंसक हैं। उनके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग है पर उन्हें निम्न-कुल या नस्ल का नहीं कहा गया है।

सांख्यशास्त्र का प्रमाण है :

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति।

मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥

(कारिका 57)

इस पर वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या है—

ब्राह्मनः। प्राजापत्यः। ऐन्द्रः। पैत्रः। गान्धर्वः। यक्षः। राक्षसः। पैशाच इत्यष्टविधो दैवः सर्गः। तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति। पशु-मृग-पक्षी-सरीसृप-स्थावरः। मानुष्यश्चैकविधः। ब्राह्मणत्वाद्यवान्तर भेदाऽविवक्षा संस्थानस्य चतुष्पि वर्णेष्वविशेषा दिति।

अर्थ—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच ये आठ प्रकार की देवयोनियां हैं। तैर्यग-योनि पांच प्रकार की हैं—पशु, मृग, पक्षी, सर्प और स्थावर। ब्राह्मणादि चार वर्णों में किसी प्रकार का पृथक्त्व नहीं है, इस हेतु ब्राह्मण आदि अवान्तर भेद न मानकर मनुष्ययोनि एक ही प्रकार की मानी गई है।

इस सांख्यकारिका में 'मानुष्यश्चैकविध' मनुष्य एक ही प्रकार का है, यह विस्पष्ट वर्णन है। पुनः 'दैवादिभेदा' इस सांख्य 3/46 सूत्र की व्याख्या में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'मानुष्यसर्गश्चैक-प्रकार' मनुष्य-जाति एक ही प्रकार की है।²

बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4) का कथन है :

'ब्रह्म वा इदमग्र असीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्।'

'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' (11)

'स नैव व्यभवत् स विशमसृजत्' (12)

'स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत्' (13)

प्रथम एक ही ब्राह्मण वर्ण था। एक होने के कारण उसकी वृद्धि नहीं हुई, इस हेतु अपने से भी उत्तम क्षत्रियवर्ण को उत्पन्न किया। उससे भी वृद्धि नहीं हुई, तब वैश्यवर्ण बनाया। उससे भी उन्नति नहीं हुई, तब शूद्रवर्ण बनाया।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम एक ही वर्ण था, धीरे-धीरे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण बनते गये।³

महाभारत (शांति पर्व, 188/10-13) से उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मिदं जगत्।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ 10 ॥

काम-भोग-प्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।

त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ 11 ॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।

स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः ॥ 12 ॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।

कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ 13 ॥

अर्थ—पहले वर्णों में कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सभी मनुष्य ब्राह्मण थे। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया। अपने धर्म का त्याग करके जो भोगों के मोही, कटु, क्रोधी, तथा साहसी हो गये, उनका रंग लाल हो गया। ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाने लगे। जिन्होंने खेती, गौपालन तथा व्यवसाय में मन लगाया, वे ब्राह्मण पीले हो गये। ऐसे ब्राह्मण वैश्य कहलाये। और जो शौच-सदाचार छोड़कर हिंसा तथा असत्य के व्यसनी हो गये और निन्दनीय कर्मों से अपनी जीविका चलाने लगे, वे ब्राह्मण काले हो गये और शूद्र कहलाये।

क्रमशः

1. प्रा.भा. का राज तथा सांस्कृतिक इति. विमल चन्द्र पांडे।

भाग-1, पृ. 155-56।

2. जाति निर्णय, पृ. 76-77।

3. वही, पृ. 77-78।

व्यवहार वीथी

प्रसन्न कैसे रहें?

हर मनुष्य का जीवन प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों के बीच से होकर ही गुजरता है। कोई इनसे न अछूता रहा है और न रह सकता है। लेकिन किसी के जीवन में प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति एकरस नहीं रहते। इनमें कमी-बेशी, घट-बढ़, अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग आदि लगे रहते हैं। इस कमी-बेशी, घट-बढ़ आदि को कोई रोक नहीं सकता। प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति को एकरस एवं अनुकूल बनाये रखकर सुखी होने की आशा करना बर्फ को भूनकर खाने के समान है। प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति के संबंध से जीवन का निर्वाह एवं व्यवहार होता है, किन्तु मनुष्य का सुखी-दुखी, शांत-अशांत रहना इन पर निर्भर नहीं करता, अपितु समझ पर निर्भर करता है। यदि मनुष्य का सुख-दुख प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति पर आधारित होता तो हर धनी-संपन्न और भरे-पूरे परिवार वाले व्यक्ति को सुखी, शांत और प्रसन्न होना चाहिए, परंतु ऐसा कहां है !

जिनके संगी-साथी साथ छोड़ दिये हैं या प्रतिकूल हो गये हैं, जिनके पास जीवन-निर्वाह की चीजें बहुत थोड़ी-सीमित मात्रा में हैं या नहीं भी हैं, जिनके लिए हर परिस्थिति प्रतिकूल है, ऐसे लोग दुखी रहें यह बात तो समझ में आती है, किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि हर प्रकार से साधन संपन्न और अनुकूल परिस्थिति में जीने वाले लोग भी दुखी रहें। वस्तुतः ऐसे लोगों का दुख अभाव का नहीं, किन्तु स्वभाव का और समझ एवं विवेक की कमी का है। ऐसे लोग उसे नहीं देखते जो उन्हें प्राप्त है, मिला है, किन्तु सदैव उसे देखते रहते हैं, जो उन्हें अप्राप्त है, नहीं मिला है। उन्हें जो है, प्राप्त है उसमें सुख नहीं दिखता किन्तु जो नहीं है, अप्राप्त है उसमें सुख दिखता है और जो व्यक्ति जो प्राप्त है उसमें

सुखी, संतुष्ट, प्रसन्न नहीं रह सकता उसका मन सदैव क्षोभ, शिकायत और तनाव से भरा रहेगा। उसके लिए सुख-शांति सदैव गूलर के फूल बने रहेंगे। बाहर से वह चाहे कितना भी संपन्न क्यों न हो जाये उसके भीतर की दरिद्रता कभी मिटेगी नहीं। और जिसका मन दरिद्र बना हुआ है वह सुखी जीवन कैसे जी सकता है। सुखी जीवन वही जी सकता है जिसका मन हर समय संतुष्ट रहता है, जिसने अपने स्वभाव को, समझ को ठीक बना लिया है।

जिस प्रकार हर मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव, संस्कार में अंतर और विषमता है उसी प्रकार बाह्य भौतिक स्थिति, स्तर में अंतर और विषमता रही है, आज है और आगे रहेगी। दुनिया की कोई ताकत इस अंतर और विषमता को मिटा नहीं सकती। लेकिन यदि मनुष्य प्राप्त समय, शक्ति और योग्यता के अनुसार परिश्रम करता रहे, किसी भी काम से जी न चुराये और दुर्व्यसन तथा फिजूलखर्ची से बचकर रहे तो उसे जीवन-निर्वाह की आवश्यक चीजों की कमी कभी नहीं होगी।

यदि क्षोभ, शिकायत, असंतोष एवं तनाव से बचे रहकर सरल ढंग से प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीना है तो जो चीजें नहीं मिली हैं उनके बारे में सोचना और उन्हें देख-देखकर ललचाना छोड़ दें। हां, सदैव किसी काम से जी न चुराकर समर्पित होकर परिश्रम करते रहें तो जब जिसकी आवश्यकता होगी, जिसके बिना जीना मुश्किल हो जायेगा, वे चीजें मिलती चली जायेंगी। ध्यान दें, चीजें केवल चाहने से नहीं मिलतीं, किन्तु उन्हें पाने के लिए वैसी योग्यता अर्जित करने के साथ-साथ भरपूर परिश्रम करना पड़ता है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि सुख-दुख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता भौतिक वस्तुओं के समृद्धि एवं हास पर निर्भर नहीं करते, अपितु समझ के ठीक होने न होने पर, मानसिकता पर निर्भर करते हैं।

यदि हर परिस्थिति में शांत, संतुष्ट, सुखी और प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीना चाहते हैं तो निम्न भावों को अपने मन में हर समय बनाये रखना होगा।

1. **कृतज्ञ भाव**—कृतज्ञ भाव का अर्थ है जो कुछ मिला है उसके लिए उपकार मानना, एहसानमंद एवं आभारी होना। आप इसीलिए तो हर समय दुखी और क्षुब्ध रहते हैं, साथ-साथ आपका मन शिकायत से भरा रहता है कि आपके पास ऐसी बहुत-सी चीजें नहीं हैं जो आपके साथियों, मित्रों एवं पड़ोसियों के पास हैं, परन्तु कभी आपने इस बात पर गौर किया है कि आपके पास ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जो हजारों-लाखों लोगों के पास नहीं हैं और वे उनके बिना आराम से जी रहे हैं, फिर आप उन चीजों के बिना क्यों नहीं जी सकते जो आपके पास नहीं हैं। वस्तुतः आप दुखी इसलिए नहीं हैं कि वे चीजें आपके पास नहीं हैं, किन्तु आप दुखी इसलिए हैं कि वे चीजें आपके पास न होकर आपके साथियों, मित्रों एवं पड़ोसियों के पास क्यों हैं। आपका यह दुख आपकी ईर्ष्या एवं आपके लोभ-लालच के कारण है। यदि वे चीजें आपके साथियों, मित्रों एवं पड़ोसियों के पास न होतीं तो शायद आप उनके लिए दुखी न होते।

जो चीजें आपके पास नहीं हैं उनके लिए रोना न रोयें, किन्तु यथोचित परिश्रम करते रहें, पुरुषार्थ-प्रारब्ध का योग होगा और सचमुच उन चीजों की आवश्यकता होगी तो वे चीजें आपको मिलकर रहेंगी। अभी तो आप उनका आनंद लें जो आपके पास हैं। कभी आपने इस बात पर विचार किया है कि प्रकृति-कुदरत ने आपको खुला आकाश, खुली धरती, शीतल जल, प्राणप्रद वायु, सूरज का प्रकाश एवं उष्मा, चंद्रमा की चांदनी, तारों की जगमगाहट आदि का कैसा अनमोल उपहार प्रदान किया है, वह भी निःशुल्क। हर समय आप सांस ले रहे हैं, हर दिन आपको सूरज की रोशनी और उष्मा मिल रही है, रात में तारों की जगमगाहट एवं चंद्रमा की शीतल चांदनी मिल रही है, धरती पर चल-फिर रहे हैं, शीतल जल पी रहे हैं क्या इनके बिना आप जीवन की कल्पना कर सकते हैं। यदि नहीं, तो क्या इनके लिए आपको कोई शुल्क-टैक्स देना पड़ रहा है? क्या इन सबके लिए कभी आपके मन में कृतज्ञता का भाव आया? शायद कभी नहीं। इस बारे में कभी आपने सोचा भी नहीं होगा।

जरा सोचें, आपका अपना क्या है? सब कुछ तो दूसरों का दिया हुआ है। आपको जन्म देने वाले दूसरे अर्थात् माता-पिता हैं। जिस नाम से आप दूसरों को अपना परिचय देते हैं, वह नाम भी आपको दूसरों ने, माता-पिता, पुरोहित, गुरु ने, दिया है, जिस विद्या का आपको बड़ा अहंकार है और जिसके आधार पर आप नौकरी, व्यापार, काम-धन्धा कर रहे हैं वह विद्या भी दूसरों ने पढ़ायी है, आपका शादी-विवाह दूसरों ने किया है, रिस्ता दूसरों से ही जुड़ा है, जिस मकान में रहते हैं दूसरों का ही बनाया हुआ है, काम-धन्धा करना दूसरों ने ही सिखाया है, इस प्रकार आपका सब कुछ तो दूसरों का ही दिया हुआ है, क्या इनके लिए मन में कभी कृतज्ञता का भाव आया। आप दूसरों को कभी कुछ देते हैं, तो सदैव याद रखते हैं, परन्तु दूसरों ने आपको बहुत कुछ या सब कुछ दिया है उनको भुलाकर कहते हैं कि दूसरों ने मुझे क्या दिया है। यही है आपके दुख का कारण।

आपके मन में अनेक बार यह शिकायत का भाव आया होगा कि माता-पिता, परिवार, समाज ने मेरे लिए क्या किया, मुझे क्या दिया। परन्तु आपने यह कभी नहीं सोचा होगा कि आज मैं जीवित हूँ तो माता-पिता, परिवार एवं समाज के सहयोग के कारण ही। लेकिन इनके लिए आपके मन में कभी कृतज्ञता का, उपकार का भाव नहीं आया होगा। यदि सूची बनायी जाये तो ऐसी बहुत-सी चीजें आपको मिली हैं, जिनके बिना आप जी नहीं सकते। अतः जो चीजें आपको नहीं मिली हैं उनके बारे में सोचना और शिकायत करना बंद कर उनके बारे में सोचना शुरू करें जो आपको मिली हैं, वह भी निःशुल्क बिना किसी प्रयास के और जिनके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, साथ ही उनके लिए सदैव कृतज्ञ भाव बनायें रखें। इससे मन में जो अभाव, असंतोष, क्षोभ, शिकायत, दैन्यता, तनाव आदि बने हैं, सब खत्म हो जायेंगे और मन प्रसन्नता से भरा रहेगा।

2. **संतोष भाव**—संतोष भाव का अर्थ है जब जो

मिले उसको बहुत समझना, उसमें कमी-अभाव का अनुभव न करना। संतोष का अर्थ काम-धंधा, परिश्रम करना छोड़कर निकम्मा होकर बैठ जाना नहीं है, किन्तु प्राप्त समय, शक्ति, योग्यता के अनुसार भरपूर परिश्रम करना और उस परिश्रम से जो प्राप्त हो उसको बहुत समझकर सुखी रहना है। असंतोषी आदमी को चाहे जो कुछ जितना मिल जाये उसका मन हर समय जलता रहता है क्योंकि उसके मन में हर समय यह भाव बना रहता है कि जैसा-जितना चाहिए वैसा-उतना नहीं मिला, इसीलिए वह प्राप्त वस्तुओं का भी आनंद नहीं ले पाता। प्राप्त वस्तुओं का आनंद तो संतोषी व्यक्ति ही ले पाता है, क्योंकि उसके मन से अभाव-कमी की अनुभूति सर्वथा मिट चुकी होती है।

संतोषी व्यक्ति को हर समय यह महसूस होता रहता है कि जो जितना मिला है ज्यादा मिला है। उसके मन में कभी किसी बात के लिए क्षोभ-शिकायत नहीं होती और इसीलिए हर समय वह प्रसन्न और सुखी रहता है। मन में संतोषभाव आने पर व्यक्ति यह नहीं देखता कि उसे क्या-क्या नहीं मिला है, किन्तु उसकी दृष्टि सदैव उन वस्तुओं पर रहती है जो उसे मिली हैं।

“संतोषी सदा सुखी” यह केवल कहावत नहीं है किन्तु एक हकीकत है। कोई भी व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—“संतो, संतोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय।” अर्थात् हे संतो, संतोष में ही सुख है। यदि तुम संतुष्ट हो जाओ तो तुम्हारा जलता हुआ हृदय-मन अभी शीतल हो जाये। अतः यदि क्षोभ, शिकायत एवं तनाव से रहित होकर जीवन का और जीवन में प्राप्त वस्तुओं का सच्चा आनंद लेना चाहते हैं, प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीना चाहते हैं तो प्राप्त समय, शक्ति, योग्यता के अनुसार भरपूर परिश्रम करते रहें और उससे जो प्राप्त हो उसे बहुत समझकर उसमें संतुष्ट रहें। मन में सब समय संतोष भाव बनाये रखें।

3. स्वीकार भाव—किसी के जीवन में परिस्थितियां एकरस नहीं रहतीं और न जो प्राणी-पदार्थ मिले हैं, जिनके सहयोग से जीवन गुजर होता है, वे

एकरस रहते हैं। सब कुछ बदलता रहता है, बदल जाता है। परिवर्तन का नाम ही जीवन है। इसमें सुख-दुख, घाटा-मुनाफा, अपमान-सम्मान, अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग आदि का द्वंद्व सदैव लगा रहता है। कोई इनसे बचा नहीं है। अतः जीवन में जब जो आये उसको सहजभाव से स्वीकार कर लिया जाये तो कोई द्वंद्व या परिस्थिति आदमी को परेशान नहीं कर सकती।

जैसे खेत में वही फसल पकती है जो बीज आदमी बोया होता है। बीज दूसरा बोया गया हो और फसल दूसरी तैयार हो यह कभी नहीं होता। जैसा बीज वैसी फसल प्रकृति का अकाट्य-शाश्वत नियम है। ठीक वैसे ही हमारे जीवन में सुख-दुख, हानि-लाभ के वही फल हमें मिलते हैं जैसा कर्म हमने किया है। चाहे हमें हमारे किये कर्मों की याद हो या न हो वही फल हमें मिलता है और आगे मिलेगा जैसा कर्म हमने किया है और आज कर रहे हैं।

हमारे जीवन में सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-सम्मान आदि जो कुछ हमें मिल रहा है उसके पूरे के पूरे जिम्मेदार हम स्वयं हैं, दूसरा कोई नहीं। दूसरा सिर्फ माध्यम है चाहे वह व्यक्ति, समाज या कोई प्राकृतिक घटना हो। मनुष्य का सहज स्वभाव है कि उसे जो कुछ अच्छा होता है या मिलता है उसके लिए वह खुद को जिम्मेदार मानता है, किन्तु जो कुछ खराब होता है या मिलता है उसके लिए दूसरों को दोषी और जिम्मेदार मानता है। परंतु यह सोच गलत है। जीवन में जो कुछ अच्छा-बुरा मिल रहा है उन सबका जिम्मेदार मनुष्य स्वयं है। इस तथ्य को स्वीकार किये बिना मनुष्य अपने कर्मों का सुधार कभी नहीं कर सकता।

जब तक आप किसी दुख या समस्या को स्वीकार नहीं करते, उससे दूर भागने की कोशिश करते रहते हैं तब तक वह आपके सामने एक चुनौती बनकर खड़ी रहेगी। आप कभी उसका समाधान नहीं कर सकेंगे। लेकिन जैसे ही आप किसी दुख या समस्या को स्वीकार कर लेते हैं वैसे ही उसकी ताकत आधी रह जाती है और आपकी ताकत दुगुनी हो जाती है। फिर बहुत

जल्दी आप उसका समाधान कर लेंगे। इसलिए अपने जीवन में घटित होने वाली हर घटना को स्वीकार करें। उसका दोष किसी दूसरे पर न मढ़कर स्वयं उसकी जिम्मेदारी लें।

हां, जब जीवन में सुख, लाभ, समृद्धि, सम्मान, अनुकूलता आये तो इतरायें न और न अहंकार में डूबकर किसी का तिरस्कार-अपमान करें किन्तु यह समझें कि इस समय मुझे मेरे शुभ कर्मों का फल मिल रहा है। सदैव विनम्र रहकर सही दिशा में चलते हुए स्व-पर की भलाई का काम करते रहें। और जब जीवन में दुख, घाटा, अपमान, प्रतिकूलता आये तब समझें कि इस समय मेरे किये हुए अशुभ कर्मों के फल-भोग का उदय चल रहा है और यह समय शुभ कर्म करने का है।

जिस प्रकार प्रकृति में रोज सूर्योदय और सूर्यास्त होते हैं, सुबह और शाम होती हैं, रात और दिन होते हैं, उनको बिना किसी प्रतिक्रिया के सहज भाव से स्वीकार करते हैं उसी प्रकार सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, प्रिय वियोग-अप्रिय संयोग को भी स्वीकार कर लें तो कभी विचलित और परेशान नहीं होंगे और जीवन को सहज, शांति और प्रसन्नता पूर्वक जी सकेंगे।

4. आदर और सेवाभाव—यह प्रकृति का अटूट नियम है कि जो दिया जाता है वही कालांतर में अनेक गुणा होकर वापस मिलता है। यहां पाने का सबसे बढ़िया तरीका है—देना-बांटना। यह ध्यान रखें कि जो अपने से बड़ों को आदर-सम्मान देना नहीं जानता उसे अपने से छोटों से कभी आदर-सम्मान नहीं मिल सकता और जो माता-पिता, बड़े-बुजुर्ग, दीन-दुखियों की सेवा करना नहीं जानता या नहीं करता उसे भी रोग-व्याधि, संकट के समय किसी की सेवा नहीं मिलती।

जो अपने से उम्र, पद, मर्यादा, गुण, कर्म, आचरण में बड़े-श्रेष्ठ हैं उन्हें यथोचित आदर-सम्मान तो दें ही जो अपने से छोटे हैं उनके लिए भी आदर-सम्मान का भाव रखें। जिनकी सेवा करनी चाहिए या की जा सकती

है उनकी तो सेवा करें ही, जिनकी सेवा नहीं कर सकते उनके लिए भी सेवाभाव अवश्य रखें।

सबके लिए आदर-सेवाभाव रखने से मन का अहंकार गलता है और मन सरल-विनम्र बना रहता है। और सरल-विनम्र मन क्षोभ-शिकायत से दूर हटकर हर समय प्रसन्नता का अनुभव करता रहता है।

यह सदैव याद रखें कि बिना सेवा के चित्त कभी शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त-शुद्धि के बिना कोई प्रसन्नतापूर्वक जी नहीं सकता।

5. निष्काम भाव—जो बन सके सबको आदर दें, सबकी सेवा करें, अपने कर्तव्य का समुचित पालन करें, सदैव शुभ कर्म करते रहें, किन्तु किसी से किसी प्रकार अपेक्षा-कामना न रखें। यह सदैव ध्यान रखें कि अपेक्षा और कामना रखकर कोई भी व्यक्ति चिंता, क्षोभ, शिकायत और तनाव से बच नहीं सकता। अतः सबसे सब समय निष्काम रहें। जो किसी से कुछ नहीं चाहता, निष्काम रहता है उसे न किसी के लिए कोई शिकायत रहती है और न वह किसी बात को लेकर क्षुब्ध होता है।

निष्काम व्यक्ति अपना काम करता चला जाता है। वह यह परवाह नहीं करता कि कौन मेरे लिए क्या कर रहा है और क्या कह रहा है। जैसे सूर्य सबको समान भाव से प्रकाश और ऊष्मा प्रदान करता है, नदियां सबको समान भाव से अपना शीतल जल देती हैं और वृक्ष अपना फल-फूल देते हैं वैसे ही निष्काम व्यक्ति निष्छल भाव से सबको अपना प्यार देता है, किसी से कुछ चाहता नहीं, किन्तु सब समय शांत, संतुष्ट और आत्म तृप्त रहता है। उसका जीवन सुगंधी से भरा होता है।

इस प्रकार कृतज्ञ भाव, संतोष भाव, स्वीकार भाव, आदर-सेवा भाव तथा निष्काम भाव शांत, सुखी, संतुष्ट एवं प्रसन्नतपूर्वक जीवन जीने का सुंदर तरीका है। इन भावों के आने पर क्षोभ, तनाव, अशांति, शिकायत सदैव के लिए दूर हो जाते हैं।

—धर्मेन्द्र दास

मिस रोशनी

लेखक—दिनेन्द्र दास

वह पूस की बेहद सर्द हाड़ कंपा देने वाली ठंडी रात थी। संगीता अपनी दुधमुही बच्ची को सीने में चिपकाये, अपने पति संजय के सामने रो-गिड़गिड़ा रही थी और बच्ची की जान की दुहाई मांग रही थी। शराब के नशे में धुत संजय उसे लात-घूसों से पीटे जा रहा था। साथ-साथ चिल्ला रहा था “निकल हरामजादी, आज से इस घर में कदम न रखना। जहां जाना हो चली जा! लौटकर आयी तो तेरा खून पी जाऊंगा।”

संगीता को निकालकर संजय ने घर का दरवाजा बंद कर लिया। संगीता दहाड़ मार कर रो पड़ी। इस समय शराबी पति की दुत्कार का उसे इतना मलाल नहीं था जितना अपनी सास की निष्ठुरता का था। वह तो एक औरत है। उसका दिल कैसे इतना कठोर हो गया जो उसने अपनी दुधमुही पौत्री पर भी दया नहीं की और अपने सामने इतना बड़ा अत्याचार होने दिया।

इस समय रात के साढ़े ग्यारह बज रहे थे। संगीता क्या करे, कहां जाये? नन्ही बेटी को सीने में चिपकाये वह काफी देर तक विलाप करती रही। घण्टा भर और बीत गया। बेटी मुन्नी के शरीर में इस समय कोई हरकत न होते देखकर वह परेशान हो उठी। दूर बिजली के खंभे में लगे बल्ब के हल्के प्रकाश में संगीता ने देखा कि मुन्नी का चेहरा पीला पड़ता जा रहा है। उसका शरीर भी अकड़ता जा रहा है। संगीता परेशान हो उठी। उसे अपने राक्षस पति और राक्षसी सास से कोई उम्मीद नहीं थी। वह मुन्नी को लेकर मुहल्ले के परिचित डॉक्टर राजेश के पास गयी।

इस सर्द रात में भी डॉक्टर ने अपना फर्ज निभाया। मुन्नी की जांच-पड़ताल की और कहा “तुमने बच्ची को लाने में देर कर दी...।”

संगीता बिलख पड़ी। डॉक्टर के पैर पकड़ ली और बोली “भगवान के लिए ऐसा न कहिये! पहले ही मैं चार बेटियों को खो चुकी हूं, अब इसे खोकर मैं जिन्दा

नहीं रह सकती।”

“मैं पूरी कोशिश करता हूं कि बच्ची की जान बच जाये! बाकी विधाता की मर्जी।”

डाक्टर ने एक इन्जेक्शन लगाया। कुछ दवा पिलाई। मुन्नी के शरीर में हरकत हुई, उसने धीरे-धीरे आंखें खोली, हाथ-पैर हिलाने लगी। मानो संगीता की जान में जान आ गई हो।

इस समय डाक्टर को देने के लिए संगीता के पास कुछ नहीं था, सिवाय कृतज्ञता के। वह बोली—आप डाक्टर नहीं, मेरे लिए भगवान हैं। आपका एहसान मैं जिन्दगी भर नहीं भूलूंगी।”

“मरते हुए को बचाना हर इंसान का फर्ज होता है, फिर डाक्टर का तो काम ही है कि मरते हुए को जीवनदान देना। यह तो मेरा फर्ज था बहिन! मैंने अपना फर्ज अदा किया।” डाक्टर ने कहा।

डाक्टर ने वहीं अपनी क्लीनिक में ही संगीता के लिए एक बेड का इंतजाम कर दिया। कुछ कंबल भी दे दिया। संगीता बच्ची को लेकर वहीं लेट गयी।

बच्ची तो सो गई, लेकिन उसे नींद कहां आती। अतीत की घटनाएं उसके सामने चलचित्र की तरह प्रकट होने लगीं। वह जब पहली बार गर्भवती हुई थी तब सास ने बेटे संजय से कहा था—बेटा, अस्पताल जाकर बहू को चेक करा लेना। पता तो चले उसकी कोख में क्या है?

संजय ने आज्ञाकारी बेटे का फर्ज निभाया था और अस्पताल में जाकर उसकी जांच करवायी थी और अस्पताल से लौटकर उसने मां को बड़ी प्रसन्नता के साथ बताया था “मां, तुम्हारी बहू की कोख में लड़की है।”

संजय के मुख से ‘लड़की’ शब्द सुनते ही संजय की मां सुरेखा को मानो सांप सूँघ गया हो। बड़बड़ाने

लगी “हमें नहीं चाहिए कलंकनी, कुलबोरनी, पिशाचिनी...। हमें तो लड़का चाहिए। बेटा कुल का दीपक होता है। बेटा होगा तो कुल का नाम रोशन करेगा। वंश की वृद्धि होगी। देखो बेटा संजय, लड़की होगी तो उसके पालन-पोषण, पढ़ाने-लिखाने में काफी खर्च होगा। लड़की जब बड़ी हो जायेगी, कुछ काम करने लगेगी तो उसे पराये के घर भेजना पड़ेगा। लाखों रुपये शादी में खर्च होंगे दहेज के नाम पर, क्या-क्या नहीं देना पड़ेगा। हमारा पूरा धन उसी में लुट जायेगा। इसलिए मेरी मानो संगीता को बहला-फुसलाकर ले जाओ डाक्टर के पास और उसका गर्भ गिरवा दो, लेकिन ध्यान रखना “न सांप मरे न लाठी टूटे” ऐसा काम करना कि किसी को कानोकान पता न चले।” संजय ने इसका विरोध किया “कैसी बातें करती हो मां! हमारा बच्चा लड़का हो या लड़की इसमें क्या फर्क पड़ता है। मैं ऐसा कर्म नहीं करूंगा, यह पाप है, हत्या है। मुहल्ले वाले जानेंगे तो क्या कहेंगे। लोग हमपर थूकेंगे।”

“बेटा, मैं तुम्हारी भलाई के लिए कह रही हूँ वरना मुझे क्या पड़ी है। मैं कौन होती हूँ तुम्हें सलाह देने वाली? निर्णय तुम्हें लेना है, पड़ोसी को नहीं, मेरी बात मानो जल्दी करो। आजकल में यह काम हो ही जाना चाहिए। आगे चलकर दिक्कत हो जायेगी।”

संजय की बुद्धि को सुरेखा ने मंथरा की तरह मथ दिया। संजय का मन विचलित हो गया। रात में नींद नहीं आई। सोचा, मां-बाप उसके दुश्मन थोड़े हैं, फिर मैं ही अकेला गर्भपात कराने वाला पति थोड़े हूँ। एक महीना पहले सतीश ने भी तो अपनी पत्नी सती का गर्भपात कराया था। बहुत लोग कराते हैं। इस तरह दूसरे दिन संजय, संगीता को लेकर डॉ. ऊषा के अस्पताल में पहुंच गया।

डाक्टर ऊषा ने उसे देखते ही कहा—“कैसे आना हुआ...। कल तो चेकअप कराये थे न!...”

“मैडम जी! आपसे कुछ जरूरी बात करनी है।” डाक्टर ऊषा ने मन ही मन मुस्कराते हुए कहा—“आइये...अंदर बैठिये!”

डाक्टर के कक्ष में केवल दोनों ही हैं, डाक्टर ऊषा और संजय।

“कहो क्या बात है।” डाक्टर ने पूछा।

“मुझे लड़की नहीं चाहिए। इसके लिए आप कुछ कीजिए।” डाक्टर ने सहज भाव से कहा—“भगवान जो दे रहा है उसे स्वीकार करो। मैं क्या कर सकती हूँ।”

“मैंने पड़ोसी के मुख से सुना है आप गर्भपात करती हैं। रामनगर की ममता का गर्भपात आपने ही किया है।”

डाक्टर ऊषा ने अपने हाथ के पंजे से संजय के मुख को बंद करते हुए कहा, “धीरे बोलिये, दीवाल के भी कान होते हैं।”

डाक्टर ऊषा ने भी अन्य डाक्टरों की तरह अपने हास्पिटल में एक दिखावे का बोर्ड लगा रखा था, ‘भ्रूण हत्या करना दण्डनीय अपराध है’, लेकिन ऐसे ही सैकड़ों केस निपटा चुकी थी। वह चाहती ही थी कि लोग किसी तरह मेरे चंगुल में फंसे और मेरे से गर्भपात करवाये। मैडम ने इसी से तो कई मंजिला इमारत खड़ी की थी। पूरे शहर में इस कार्य के लिए मशहूर हो गयी थी। दूर-दूर के लोग गर्भपात कराने के लिए आते और मोटी रकम देकर गर्भपात करा देते। इससे उसे अच्छी खासी आमदनी हो जाती, लेकिन डाक्टर को भय भी था कि मेरी पोल पट्टी खुल न जाये। कहीं लोग हल्ला कर देंगे तो मेरी मिट्टी पलीद हो जायेगी। इसलिए सामने वाले से बार-बार कबूल कराकर यह काम आसानी से कर देती।

डाक्टर ऊषा लम्बी श्वास भरती हुई बोली “आप जिद करते हैं तो मेरी दो शर्तें आपको माननी होगी।”

“बताइये मैडम, वह कौन-सी शर्त है।”

“एक तो तुम्हें इस बात को गोपनीय रखना होगा। दूसरी बात है मोटी रकम चुकानी होगी।”

“मैं कसम खाता हूँ कि इस बात को अपनी पत्नी तक को नहीं बताऊंगा और आपको मोटी रकम भी दूंगा।”

संजय ने बैग से दस हजार की गड्डी निकाल कर डाक्टर के टेबल पर रख दिया। रुपया पाते ही डाक्टर ने अति शीघ्र संगीता को आपरेशन थियेटर के बेड में सुला दिया और बेहोशी का एक इंजेक्शन लगा दिया। एक मिनट में संगीता बेहोश हो गई। डाक्टर ने दूसरा इंजेक्शन लगाया जिससे कुछ मिनटों में संगीता के गर्भ से भ्रूण बाहर हो गया।

संगीता जो मां बनने वाली थी उसे इतना ही मालूम था कि मेरे पेट में बच्चा है और मैं चेकअप करा रही हूँ। उसे यह नहीं मालूम था कि मेरे कलेजे के टुकड़े को मुझसे अलग किया जा रहा है। पता भी कैसे चलता संगीता के घर वाले एवं पति उससे पूछना आवश्यक नहीं समझते थे। डाक्टर को पैसे से मतलब! वे भला संगीता को क्यों बताती?

कुछ दिन बाद शारीरिक क्रिया कलाप से पेट में कुछ हरकत न होने पर संगीता को संदेह हुआ। आखिर पेट का बच्चा कहां चला गया। फिर संजय से पूछने पर पता चला कि तुम्हारा पेट का बच्चा खराब हो गया था इसलिए उसे निकाल गिरवाया। संगीता ने इस घटना को सहजभाव से लिया। अपनी ही शारीरिक कमजोरी समझकर अपने अंदर पचा लिया।

एक वर्ष बाद संगीता पुनः गर्भवती हुई फिर डाक्टर के पास ले गये। चेकअप के बाद संजय के पूछने पर डाक्टर ने कहा “जय काली”।

इस बार भी संजय ने डाक्टर को मोटी रकम देकर गर्भपात करा दिया। ऐसे-ऐसे पांच वर्षों में चार बार संगीता का गर्भपात करा दिया गया जिससे संगीता का शरीर काफी दुर्बल हो गया। वह अट्ठाइस वर्ष की युवती होकर भी अट्ठावन वर्ष की बूढ़ी दिखने लगी। उसका लावण्य, सौंदर्य, शक्ति सब कुछ स्वाहा हो गया।

संगीता को घरवाले प्रताड़ित करने लगे “तुम कैसी औरत हो, जो बार-बार लड़की ही पैदा करती हो। क्या तुम्हारी कोख में एक भी लड़का नहीं है। हमारा वंश डूब जायेगा। संजय भी बार-बार संगीता को कोसता कि मुझमें कमी नहीं है, कमी है तो तुममें।”

एक वर्ष बाद संगीता को पुनः गर्भ ठहरा। इस बार वह किसी से इस संबंध में चर्चा नहीं की और अपने मायके विष्णुपुर चली गयी। कुछ दिन बाद संगीता ने एक सुन्दर बच्ची मुन्नी को जन्म दिया। संगीता ने संजय को फोन से बुलाया, संजय आया। संगीता संजय के सामने नवजात शिशु को दिखाते हुए कहा “आपकी बेटी कितनी मासूम, कितनी सुन्दर है, कैसी मुस्कुरा रही है, गोद में लेकर चुम्बन तो ले लो।”

“ओह! जो नहीं चाहता था, वही फिर हुआ।” बोला और तुरन्त वहां से खिसक गया। संगीता सिर पीटकर रोती रह गई।

दो महीने बाद संगीता अपनी बेटी को लेकर घर आई तो घर के सभी लोग संगीता को दुत्कारने लगे। सास बोली “तुम घर के अन्दर कदम नहीं रख सकती। जहां से आयी हो वहीं चली जाओ। तुम अब मेरी बहू नहीं रही।”

× × ×

तीस वर्ष बाद। पुलिस अधीक्षक आफिस के बाहर आज काफी गहमागहमी है, भीड़ एकत्र है। ज्यादातर शहर के डाक्टर हैं। नगर की तेज तर्रार महिला आई.पी.एस. मिस रोशनी ने भ्रूण हत्या के अपराध में शहर के मशहूर स्त्री रोग विशेषज्ञ डॉ. ऊषा को गिरफ्तार किया है। इस गिरफ्तारी पर शहर के डाक्टरों में रोष है। वे सभी यहां मिस रोशनी के खिलाफ प्रदर्शन के लिए एकत्र हैं। भीड़ को नियंत्रित करने के लिए भारी मात्रा में पुलिस बल तैनात किया गया है।

उसी समय एस.पी. आफिस में संजय और उसकी मां सुरेखा की पेशी होती है। संजय ने देखा कि आफिस के एक कोने में डाक्टर ऊषा सिर झुकाये बैठी है। संजय और सुरेखा पुलिस अधिकारी मिस रोशनी के सामने थर-थर कांप रहे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें क्यों गिरफ्तार किया गया है।

उसी समय आफिस में एक अधेड़ औरत प्रवेश करती है। मिस रोशनी ने संजय और सुरेखा से पूछा “आप लोग इन्हें पहचानते हैं?”

संजय और सुरेखा ध्यान से उस औरत को देखने लगे। संजय ने कहा “हां मैम, कहीं देखा तो है। लेकिन और कुछ याद नहीं आ रहा है।” यही बात सुरेखा ने भी कही। अब मिस रोशनी ने संजय से पूछा—“उधर कोने में बैठी महिला को आप पहचानते हैं?”

“हां क्यों नहीं, ये शहर की मशहूर डाक्टर ऊषा हैं।”

“आपको पता है ये यहां क्यों लाई गयी हैं?”

“नहीं मैम, मुझे क्या मालूम?”

“आपने अपनी पत्नी का चार बार एबार्शन इसके यहां करवाया है। क्या यह बात सच है?”

संजय को काटो तो खून नहीं, कड़ाके की ठंडी में भी वह पसीना-पसीना हो गया। कुछ बोलना चाहता था, लेकिन जबान नहीं खुल रही थी।

संजय और सुरेखा कभी एस.पी. मिस रोशनी को

देखते कभी सामने खड़ी अधेड़ महिला को। स्मृति पटल के पन्ने तेजी से खुलने लगे। दोनों उस अधेड़ महिला को पहचान गये। संजय हकलाते-हकलाते बोला—“मैम!... यह...तो ... मेरी... पत्नी... संगीता... है। संगीता की ओर देखते हुए कहा “अरे... कहां ... थी... अब... तक!”

सुरेखा भी लपककर महिला से लिपट गयी। बोली, बहू, अब तक तुम कहां थी, चलो घर चलो।

मिस रोशनी की कड़क आवाज गूंजी, “दादी मां! अब घर नहीं, बेटे और डा. ऊषा के साथ जेल जाइये, भ्रूण हत्या के अपराध में।

हां! मुझे भी जान लीजिए। ये मेरी मां संगीता है। मैं आपकी वही नन्हीं मासूम पौत्री मुन्नी हूँ जिसे मरने के लिए आप दोनों मां-बेटे ने मेरी मां के साथ आधी रात को ठिठुरती ठंड में घर से बाहर निकाल दिया था।”

अप्पदीपो भवः

लेखक—विवेकदास

इस संसार में जितने भी तनधारी हैं, किसी न किसी दुख से दुखित हैं। कोई तन से दुखी है, तो कोई मन से दुखी है, तो कोई जन से दुखी है। इसीलिए सद्गुरु कबीर को कहना पड़ा “तन धरि सुखिया काहू न देखा, जो देखा सो दुखिया।” कोई बिरला ही भाग्यवान होगा जो कहता होगा कि मैं सुखी हूँ। और यदि ऐसा कोई कहने वाला मिल जाये, तो समझना कि वह कोई संत ही होगा। कहा भी है “सुखी संत मन जीत।”

आज से 2600 वर्ष पूर्व इस भारत भूमि पर महात्मा बुद्ध हुए। उन्होंने समाज को बड़ा ही वैज्ञानिक चिंतन दिया। वे दार्शनिक बातों में उलझे नहीं बल्कि जीवन की बातें किये। उन्होंने इस बात पर चिंतन किया, खोज किया कि हम दुखी क्यों होते हैं? सुख की चाहत रखते हुए भी हम दुखों के गर्त में क्यों धंसते चले जाते हैं? आखिर जीवन में दुख क्यों है? दुख कहां से आता है?

क्या दुखों से मुक्त हुआ जा सकता है? यदि मुक्त हुआ जा सकता है तो कैसे? उन्होंने चार आर्य सत्य की घोषणा की—

(1) दुख आर्य सत्य

(2) दुख समुदय आर्य सत्य

(3) दुख निरोध आर्य सत्य

(4) दुख निरोध की ओर ले जाने वाला आर्य सत्य।

जीवन में दुख है, सबको अनुभव होता है। दुख है तो दुख का कारण भी है। कारण है तो उसका निवारण भी है और निवारण का मार्ग भी है। आधि, व्याधि और उपाधि ये दुख हैं और इस दुख का कारण अविद्या है, अज्ञान है और इसका निवारण होता है। और वह मार्ग महात्मा बुद्ध के अनुसार आष्टांगिक मार्ग है जिसे संक्षिप्त में कहें तो प्रज्ञा, शील और समाधि है। विवेकज्ञान,

सद्गुण सदाचार और मन का राग-द्वेष रहित, प्रकंपन्न रहित होना। ये साधन सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। कोई भी व्यक्ति इन तीनों सोपानों से दुःखमुक्त हो सकता है।

मनुष्य अज्ञानवश सोचता है कि हमारे सुख और दुःख का कारण कोई और है। या तो इस संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति हैं या फिर कोई देव-गोसैयां है।

आज का युग भौतिक संसाधनों का युग है पहले की अपेक्षा संसाधन बढ़ गये हैं। आदमी सोचता है कि ये संसाधन हमारे पास हो जाये तो हम सुखी हो जायेंगे। यदि भोग के साधन प्राप्त हो जाये तो हम सुखी हो जायेंगे किन्तु साधनसम्पन्न लोगों को देखकर तो ऐसा कुछ नहीं लगता है। क्योंकि साधन आते हैं, सम्पन्नता बढ़ती है तो अपने साथ कई दोष और बुराई लेकर। आदमी सुखी होने के बजाय दुःखी अधिक होता है। किसी सुविधासम्पन्न व्यक्ति को देखकर आप यह नहीं कह सकते कि वह सुखी ही होगा। यदि ऐसा सम्पन्न व्यक्ति सुखी होगा तो वह धन के कारण नहीं होगा अपितु अपनी समझ के कारण सुखी होगा। यह हमेशा ख्याल में रखना चाहिए कि जिन लोगों ने भी धन, संसाधन और परिवार को सुख का साधन माना उन्हें अन्ततः मुख की खानी पड़ी है। मैंने कहीं एक सुन्दर कहानी सुनी थी—

पुराने जमाने की बात है। एक बादशाह अपने महल में रात के समय में विश्राम कर रहा था तो ऊपर छत पर किसी के चलने की आहट आयी। बादशाह जग गया, सोचने लगा आधी रात के समय, ऊपर छत पर कौन हो सकता है। पुराने जमाने की बात है, छत लकड़ी और खपरैल की रही होगी। बादशाह ने अन्दर से ही आवाज दिया, “ऊपर तुम कौन हो और क्या कर रहे हो, क्या तुम चोर हो।” ऊपर से आवाज आयी “नहीं, मैं चोर नहीं हूँ।” बादशाह ने कहा, “तो तुम ऊपर क्या कर रहे हो, इस अंधेरी रात में।” ऊपर से आवाज आयी “मेरा ऊंट खो गया है और मैं यहाँ अपना ऊंट खोज रहा हूँ।” बादशाह ने कहा ‘बड़े बेवकूफ हो तुम, क्या ऊंट छत

पर खोता है? तुम गलत जगह आ गये हो, तुम ऊंट को गलत जगह खोज रहे हो। ऊंट वहाँ कभी नहीं मिल सकता।” ऊपर से आवाज आयी “यदि आप बेवकूफ नहीं हो, तो मैं कैसे बेवकूफ हो सकता हूँ। आप भी तो सुख और शान्ति को गलत जगह धन, पद, प्रतिष्ठा, पुत्र-परिवार में खोज रहे हैं। यदि आपको इनमें सुख और शान्ति मिल सकती है तो मुझे छत पर ऊंट क्यों नहीं मिल सकता। और आप गलत नहीं हैं, तो मैं कैसे गलत हो सकता हूँ।” यह बात सुनकर बादशाह दौड़कर दरवाजे के बाहर निकला और चिल्लाया—पकड़ो-पकड़ो ऊपर कोई है, जाने न पाये, भागने न पाये। पर वह तो कूदकर भाग गया, उसे कोई पकड़ नहीं पाया। बादशाह को अहसास हो गया कि यह तो कोई महान फकीर रहा होगा। कहानी कहती है वह फकीर तो मिला नहीं; किन्तु प्रातः होते ही बादशाह भी महल छोड़कर जा चुका था।

जो जहाँ नहीं है; वह वहाँ कैसे प्राप्त हो सकता है। जिन प्राणी और पदार्थों के पीछे हम दौड़ते हैं उनमें सुख नहीं है। और न ही वे सुख और दुःख के कारण हैं। हां, बाहर से निमित्त बनते हैं और जीवनपर्यन्त बनते रहेंगे किन्तु हमारे अन्दर जितनी अधिक मात्रा में अज्ञान बाकी रहेगा उतनी मात्रा में हम दुःखी होते रहेंगे। आप, हम या कोई भी जिस मात्रा में दुःखी हो रहे हैं उस मात्रा में हमारे अन्दर अज्ञान और मूर्छा बाकी है।

कुछ लोग सोचते हैं, हम दुःखी हो रहे हैं, चाहे जिन कारणों से हों किन्तु हममें वह बल कहां जो कि हम दुःखमुक्त हो सकें। हम ऊपर वाले की शक्ति और कृपा से ही दुःख मुक्त हो सकते हैं। इसलिए भक्तिभावपूर्वक उसका भजन-कीर्तन करें।

“कबहुंक दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।” कभी तो उस दीनदयाल परमात्मा के कान तक हमारी आवाज जायेगी और वह हमारी पुकार सुनकर हमें दुःखों से बचायेगा। अनेक प्रकार के यज्ञ, जप, तप, व्रत, उपवास आदि उसी परमात्मा को खुश करने के लिए किये जाते हैं।

पहली बात तो यह विचारना चाहिए कि वह परमात्मा कैसा है, और कहां है? और उसे खुशामद क्यों चाहिए? क्योंकि हम कीर्तन, वंदन, प्रार्थना करेंगे तब वह हमारी सुनेगा। शायद हमने आज तक सही ढंग से उनकी भक्ति नहीं की, इसलिए वह खुश नहीं हुआ और हम दुख भरे संसार में दुखों का गोता खा रहे हैं। वह परमात्मा हमें दुखों से छुड़ा सकता है किन्तु छुड़ाता नहीं है, क्योंकि हमने बराबर उनकी भक्ति नहीं की। एक तरफ तो लोग यह भी कहते हैं कि यह जगत पहले नहीं था। यह उसी की लीला है। उसी परमात्मा प्रभु ने इसे बनाया है। तो साफ जाहिर है कि पहले जगत नहीं था तो दुख भी नहीं था और हम सदा से हैं, तो दुख मुक्त ही थे। किन्तु उसकी लीला के चक्कर में पड़कर हम दुखी हो रहे हैं। यदि वह लीला नहीं करता, मतलब जगत नहीं बनाता तो हम जगत जंजाल में पड़कर दुखी नहीं होते। और अब वह ईश्वर हमें दुखों से मुक्त तो कर सकता है किन्तु कर नहीं रहा है क्योंकि हम उसके अनुसार भक्ति नहीं कर रहे हैं। यह क्या तमाशा है, उसने जगत बनाकर समस्या खड़ी की और दुख हमारे सिर पर आ गया। अब वह चाहे तो उबारे नहीं तो दुखों में हम पीसते रहें। “चिड़िया का जी जाये और बच्चों का खिलौना।” कुछ बच्चे चिड़िया को पकड़ लिये और उसके पैर को बांधकर कुआं में लटककर खेलने लगे। कभी पानी में डुबाते हैं तो कभी पानी से निकालते हैं, और मजा ले रहे हैं। इधर तो चिड़िया की जान पर पड़ी है और बच्चों को खिलौना लग रहा है। यह कहां का न्याय है। यदि ईश्वर ऐसा कर रहा है, तो वह दीन दयाल और करुणानिधान कैसा? जैसा कि लोग कहते हैं।

इस पर मुझे एक संस्मरण ख्याल आ रहा है। सूरत आश्रम में दोपहर के समय एक भाई आया। कुछ देर बैठा। सत्संग-चर्चा हुई, फिर वह जाने लगा। मैंने कहा—“भाई, रविवार को सत्संग होता है, उसमें आइये।” तो उसने कहा—“हां साहेब, ऊपर वाले की कृपा होगी तो जरूर आऊंगा।” उसकी बात सुनकर मैंने कहा—“अच्छा यह बताइये कि ऊपर वाला शुभ है कि अशुभ।” उसने कहा—साहेब, होगा तो शुभ ही होगा न,

अशुभ कैसे हो सकता है। फिर मैंने कहा—अब यह बताइये कि यदि आप सत्संग में आते हैं तो यह शुभ होगा कि अशुभ। उसने कहा—सत्संग में आयेंगे तो शुभ ही होगा। मैंने कहा—सत्संग में नहीं आ पायेंगे तो आपके अनुसार ऊपरवाले की इच्छा नहीं होगी; तो फिर वह तो अशुभ हो जायेगा क्योंकि उसकी इच्छा नहीं हुई इसलिए आप नहीं आ पाये, और आपका शुभ नहीं हुआ। तो वह हंसने लगा—अरे साहेब यह तो अपने मन की बात है। मैंने कहा—हां, यही बात सही है। हम अपने मन के अनुसार करते हैं, इसमें कोई ऊपर वाले का हाथ नहीं होता।

सचमुच हम जब तक किसी ईश्वर-परमात्मा की आश लगाये बैठे रहेंगे तब तक हम दुखों से मुक्त नहीं हो पायेंगे। इसीलिए गुरु कबीर ने कहा है—

*आपन आश कीजै बहुतेरा। काहु न मर्ग पावल हरि केरा।
जो तू चाहे मूझको, छाड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥ बीजक साखी ॥*

अपना आशा-भरोसा रखो, हरि का अता-पता किसी ने नहीं पाया। यदि तू मेरे जैसा सुखी और संतुष्ट होना चाहता है तो दूसरे की आशा छोड़कर मेरे जैसा निष्काम हो जा।

गोस्वामी जी ने भी रामचरितमानस में कहा है—

*काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निजकृत कर्म भोग सब भ्राता ॥
योग वियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जन्म मरण जहँ लग जग जालु।
सम्पति विपत्ति करम अरु कालू ॥*

हे भाई, कोई किसी को सुख-दुख देने वाला नहीं है। अपने कर्मों का भोग सब स्वयं भोगते हैं। संयोग-वियोग, अच्छे-बुरे भोग, शत्रु-मित्र-उदासीन सब भ्रम बंधन है। जन्म से मरण तक, सम्पत्ति से विपत्ति तक तथा कर्म और काल जहां तक जगत का जाल है उसमें कोई दूसरा कारण नहीं है, हम स्वयं हैं।

“कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥”

जगत में कर्म ही प्रधान है। जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है।

गीता कहती है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ गीता 5/14

ईश्वर न किसी में कर्तृत्व उत्पन्न करता है, न किसी के लिए कर्म करता है और न कर्मों का फल ही देता है, अपितु यह सब स्वभाव से ही होता है।

महात्मा बुद्ध ने कहा है—

अत्ता ही अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।

अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥

(धम्मपदं 160)

आत्मा ही आत्मा का स्वामी है। उसका स्वामी अन्य कौन हो सकता है? जब मनुष्य अपने आप का पूर्ण दमन कर लेता है, तब वह दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त करता है।

महात्मा बुद्ध ने एक जगह कहा है “अप्पदीपो भवः” अपना दीपक स्वयं बनो। हमें खुद अपने अन्दर जागृति लानी होगी। निर्मल आत्मा संत-गुरु भी मार्गदर्शन ही कर सकते हैं कि तुम इस प्रकार अपने को जगाओ। वे मार्ग बता सकते हैं, वे भी हमारा कल्याण नहीं कर सकते।

फफा फल लागे बड़ दूरी, चाखे सतगुरु देय न तूरी ॥

(बीजक, ज्ञान चौतिसा)

सद्गुरु उस शान्ति या मोक्ष रूपी फल को तोड़कर खाता है, परंतु दे नहीं सकता। हमें खुद उसके लिए प्रयास करना होगा।

कितने लोग बड़े-बड़े गुरु बाबाओं के चक्कर में पड़ते हैं और सोचते हैं उनसे हमें इस जीवन में भौतिक सुख-सुविधा और अन्ततः कल्याण या मोक्ष मिल जायेगा। बस हमको सब कुछ समर्पित करके भक्ति

करनी है और वे भावुकता में पड़कर अपने वर्तमान की शान्ति और आत्मसम्मान भी गवां बैठते हैं। आज यह सब किसी से छिपा नहीं है।

किन्तु आज भी अच्छे संत-गुरु हैं जिनके मार्गदर्शन की आवश्यकता है लेकिन वे संत-गुरु भी एक हद तक ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। इसलिए अच्छे संत-गुरु का सम्मान और आदर होना चाहिए और प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु मार्गदर्शन प्राप्त करने के पश्चात हमें खुद ही चलना होगा।

अंधियारी रात थी। एक युवक को बाहर दूसरी जगह जाना था। वह सोच रहा था, कि मैं इस घनी अंधियारी में जाऊं तो जाऊं कैसे? उसके पिता ने उसे टार्च दी और कहा—बेटा! इस टार्च को लेकर चले जाओ। वह युवक थोड़ा भोला था। टार्च जलाकर देखा तो थोड़ी ही दूर तक दिखाई दिया तब उसने कहा—पिता जी, इससे तो थोड़ी दूर तक ही दिखाई देता है। मैं इतनी अंधियारी में इतनी दूर कैसे जा पाऊंगा। पिता ने कहा—बेटा, तू टार्च जलाकर चल, जैसे-जैसे आगे बढ़ता जायेगा टार्च का प्रकाश भी आगे बढ़ता जायेगा और तुम्हें जहां जाना है वहां जा सकोगे। वह युवक वैसा ही किया और अपने गन्तव्य तक पहुंच गया।

ठीक इसी प्रकार मार्गदर्शक संत-गुरु के ज्ञान का आधार लेकर हम चलने लगेंगे तो आगे हमारा मार्ग स्वयं प्रशस्त होता जायेगा। और हम अपनी मंजिल तक पहुंच जायेंगे।

हमारा सुख, हमारी मंजिल, हमारी शांति कहीं बाहर नहीं है और न ही कोई हमें बाहर से लाकर दे सकता है। न ही वह बाहरी प्राणी-पदार्थों से मिल सकता है और न ही किसी ईश्वर, देव या गोसैयों के पास है। यदि हम इस भरोसे बैठे हैं कि किसी देव या ईश्वर के कृपा-प्रसाद से हम सुख-शांति को उपलब्ध हो जायेंगे तो यह हमारी भूल है। गुरु ज्ञान के प्रकाश से अपनी ज्ञान-ज्योति को बढ़ाना है, और अपना दीपक स्वयं बनाना है।

अप्पदीपो भव।

□

परमार्थ पथ

सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

विवेक की चूड़ी कभी तनिक भी ढील नहीं करना चाहिए। नींद खुलते ही मन व्यर्थ की बातें सोचने लगने का अभ्यासी है। बीती बातें, देखे, सुने और भोगे के संस्कारों को उठाते-धरते रहना मन का स्वभाव है। इसके प्रवाह में कभी न बहना। सदैव सतत सावधान रहना। व्यर्थ की बातों को सोचने में समय न खराब करना। अपने मन को स्वरूप-विवेक में दृढ़ रखना चाहिए। आखिर में हमारे साथ कोई जड़-दृश्य रहने वाला नहीं है। तब किस बात को लेकर मन को उसमें लगाया जाये। अतएव सतत सावधान रहना साधक की परम साधना है। निरंतर आत्मचिंतन में डूबे रहने वाले साधक के लिए संसार-प्रपंच में रहने की गुंजाइश ही नहीं है।

* * *

जैसा मन चाहता है वैसे न माता-पिता मिलते हैं, न पुत्र-पुत्री, न धन, न पद, न मकान, न मान-प्रतिष्ठा, न अपने शरीर की गठन, न अंगों की प्रौढ़ता, न सुंदरता! हम हर समय नवजवानी का शरीर चाहते हैं और वह थोड़े दिनों में बूढ़ा हो जाता है। आस-पास के लोगों के स्वभाव और बरताव भी हमारे मन के अनुकूल सर्वथा नहीं रहते। क्या कहें, जीवन में कुछ भी पूर्ण नहीं लगता, सब अधूरा लगता है। यह सब असाध्य दिखती हुई व्याधियों की एक ही अचूक औषध है और वह है मन को शांत कर देना। आत्मसंतोष और चित्तशांति ही सारे अभावों का अभाव कर सकते हैं। जब मन शांत हो गया तब कोई कामना ही नहीं उठती है, फिर सब पूर्ण-ही-पूर्ण है।

* * *

जीवन का चक्कर ऐसा है कि इसका कोई ठिकाना नहीं, कब कहां क्या होगा। जो हमारे वश की बात है

वह है मन को शांत रखना। यह महत्त्व नहीं है कि हमारे भोजन, वस्त्र, आवास और प्राणी-पदार्थों की क्या स्थिति है, अपितु महत्त्व है कि हमारा मन शांत है। हमें लोग अच्छा मानते हैं कि बुरा, इसका भी मूल्य नहीं है, किंतु मूल्य है कि हमारा मन शांत है। हमारे पास दिखता हुआ शरीर से लेकर संसार हमारे साथ रहने वाला नहीं है। मेरे साथ तो केवल मैं ही रहने वाला है।

* * *

साथी सब अच्छे हैं। सबके साथ उनके स्वभाव, संस्कार, गुण, कर्म, बुद्धि एवं नाना योग्यताओं की भिन्नता है। तुम्हारे ऊपर सबकी करुणा बरसती है, कदाचित्त तुम्हारे प्रति किसी का व्यंग्य, तिरस्कार आदि का व्यवहार प्रतीत हो, तो वह भी तुम्हारे लिए कल्याणकारी है। तुम किसी से भी क्षुब्ध कभी नहीं होना। सारा संबंध पानी की धारा की तरह निरंतर बहता जा रहा है। तुम्हारे साथ कुछ भी रहने वाला नहीं है। जहां सब कुछ पानी के बुलबुले की तरह बनता-विनष्ट होता चला जा रहा है, वहां किस बात को लेकर माख-मलाल एवं अमर्ष! तुम्हारी स्थिर बादशाहत आत्मस्थिति है। उसमें हरक्षण निवास करना जीवन की सफलता है। स्वरूपस्थिति अविचल भवन है।

* * *

अहंकार दुख का व्यक्तित्व है। इसका पूर्णतया गल जाना दुखों का अत्यंत नाश है। यही स्वरूपस्थिति, ब्राह्मी स्थिति, निर्वाण एवं मोक्ष-दशा है। इस अवस्था में केवल शुद्ध चेतन की स्थिति रहती है। इस दशा में सब प्रकार वितर्कों का अत्यंत अभाव रहता है। संसार से कुछ पाने की इच्छा रखने वाला इस स्थिति में नहीं ठहर सकता। संसार से क्या मिलेगा? इस देह को चलाने के लिए थोड़ा यथाप्राप्त भोजन चाहिए, थोड़े वस्त्र और ठहरने-सोने के लिए थोड़ी जगह और यह सब मिलता रहेगा। खास बात है अपने मन को सब तरफ से समेटकर अपने आप में लीन रहना। बाहर की सारी तृष्णा त्यागकर यह स्थिति संभव है। इसी दशा में ठहरने से ही सारे दुखों का सर्वथा अंत होगा।

* * *

अशुभ हो या शुभ, व्यवहार हो या धर्म, सब जगह तृष्णा आकर जमने लगती है और इसी में पड़कर मनुष्य दुखी होता है। यथाप्राप्त में संतोष हुए बिना मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। उपलब्धियों, लौकिक उन्नतियों तथा धर्म प्रचार की कोई सीमा नहीं है। याद रखो, तुम जगत के सुधार के लिए चाहे जितना सिर पटक डालो, जगत जैसे चल रहा है वैसा ही चलेगा। जिन लोगों को समझ होगी, वे अपना सुधार करेंगे। बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी आये और गये, परंतु संसार अपनी गति में चलता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानियों तथा संतों के उपदेश का कोई फल नहीं होता है। उन्हीं की कृपा से तो हम लोगों का हित होता है। अर्थ है कि हम स्वयं तृष्णा रहित हों।

* * *

बाहर तो बहुत कुछ होता जाता है, मकान बन रहे हैं, धन आ रहा है, सम्मान मिल रहा है, परिवार तथा अनुयायी मिल रहे हैं और बाहर का माटी-गोबर सब कुछ मिल रहा है; परंतु ध्यान दो क्या मन स्वच्छ हो रहा है? क्या समाधि लग रही है, और मन अपने वश में है? क्या शरीर का अंत और सब कुछ का वियोग दिख रहा है? जब आज-कल में शरीर नहीं रह जायेगा और सारा संसार सदा के लिए भूल जायेगा। क्या इस स्थिति को मन में विलंब तक देख रहे हो? सारे प्रपंच का शून्य हो जाना पक्का है, और यह समय बहुत शीघ्र आ रहा है। अतएव दृश्यों की शून्यता हरक्षण देखो, तभी अपनी स्वरूपस्थिति, कैवल्य, निर्वाण और परमशांति की स्थिति दृढ़तम होगी।

* * *

स्वतंत्रता सबको प्रिय है। देश स्वतंत्र होना चाहिए। तभी देश उन्नति कर सकता है। जब व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़ा जायेगा और परिश्रम किया जायेगा, तब उन्नति होगी। सामाजिक स्वतंत्रता आवश्यक है। समाज के हर वर्ग के मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार किसी दिशा में भी बढ़ने तथा सामाजिक आदर पाने के अधिकारी होते

हैं। आध्यात्मिक स्वतंत्रता मुख्य है जिसमें मन पूर्ण शांति पाता है। सारी इच्छाएं-वासनाएं समाप्त कर देने पर आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है। देह मेरी नहीं है, मैं देह नहीं हूँ, अतएव देह की इंद्रियों और वासनाओं से ऊपर उठकर निरंतर आत्मलीनता में ही यह उच्चस्थिति आती है।

* * *

संसार के काम होते रहेंगे। उनके विषय में बारंबार स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु जो उचित हो, समय-शक्ति के अंदर हो, आवश्यक हो, उसका विचार कर लो और उसे करो। निरंतर स्मरण का विषय स्वरूपस्थिति होना चाहिए। अमुक काम हो या न हो, कोई अड़चन नहीं है, किंतु यदि स्वरूपस्थिति दृढ़ नहीं हुई, तो सब व्यर्थ हो जायेगा। अतएव रात-दिन सब समय यही सोचो कि मन संसार से विरत होकर निरंतर आत्मलीन कैसे रहे। अनादिकाल से तुमने सब कुछ किया, और उससे तुम्हारा दुख दूर नहीं हुआ। दुखों का सर्वथा अंत स्वरूपस्थिति में ही होगा। और यह काम अपनी स्वतंत्रता पर निर्भर है।

* * *

शरीर से लेकर संसार तक सारा जड़-दृश्य मेरे में नहीं है। इस चाम के थैले शरीर में हम अपने विषयासक्ति रूपी पापकर्म के परिपाक के कारण बैठे हैं, इसलिए यह विकारी तथा असार जड़-दृश्य दिखाई देता है और इसमें राग-द्वेष मान-मान कर रात-दिन दुख में झुलस रहे हैं। यह बिना प्रयोजन दुख झेल रहे हैं। मेरा अस्तित्व शुद्ध, निर्विकार, असंग चेतन है। उसमें अन्य कुछ नहीं है। जैसे अपना निर्मल स्वरूप है, वैसा ही दृढ़ भाव बनाकर हर क्षण जीना चाहिए। शरीर के लिए भोजन यथाप्राप्त, शुद्ध, सुपाच्य, हलका लेना चाहिए, और सारी राग-द्वेषकृत मान्यताओं को त्यागकर अपने आप में ही लीन रहने का अभ्यास करना चाहिए।

□

बीजक चिंतन

जीवन की नश्वरता

शब्द-99

अब कहां चलेउ अकेले मीता, उठहु न करहु घरहु की चिन्ता ॥
 खीर खाँड़ घृत पिण्ड सँवारा, सो तन लै बाहर कै डारा ॥
 जो शिर रचि रचि बाँधहु पागा, सो शिर रतन बिडारत कागा ॥
 हाड़ जरे जस जंगल लकड़ी, केश जरै जस घास की पूली ॥
 आवत संग न जात सँगाती, काह भये दल बाँधल हाथी ॥
 माया के रस लेइ न पाया, अन्तर यम बिलारि होइ धाया ॥
 कहहि कबीर नर अजहु न जागा, यम का मुगदर मांझ शिर लागा ॥
 शब्दार्थ—खाँड़=मीठा। पिण्ड=शरीर। बिडारत
 = विदीर्ण करना, फोड़कर बिखेरना। पूली=गट्टा। यम
 = मौत।

भावार्थ—संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने मानने वाले हे मित्र ! अब तुम अकेले किधर के लिए चल दिये? उठकर अपने घर-परिवार एवं स्वजनों की चिन्ता करो न ! ॥ 1 ॥ खीर, खाँड़ और घी खाकर जिस शरीर को तुमने बहुत चिकना बनाया था, उस तेरे लालित-पालित शरीर को लोगों ने उठाकर बाहर डाल दिया है ॥ 2 ॥ तुम जिस सिर में संवार-संवारकर बड़े कौशल से पाग बांधते थे, उस रत्नतुल्य सिर को कौवे फोड़-फोड़कर बिखेर रहे हैं ॥ 3 ॥ तुम्हारी पुष्ट हड्डियां जंगल की लकड़ी की तरह जल रही हैं और बाल घास के गट्टे की तरह स्वाहा हो रहे हैं ॥ 4 ॥ न संसार में आते समय साथ में आये हैं और न जाते समय साथ चलेंगे, फिर फौज-फक्कड़ तथा हाथी-घोड़े बांधने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ! ॥ 5 ॥ तू इच्छानुसार माया का आनन्द नहीं ले पाया, इतने में मौत बिल्ली बनकर तेरे ऊपर टूट पड़ी ॥ 6 ॥ सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार में इस प्रकार मौत का तांडव देखकर भी मनुष्य सावधान नहीं होता और देखते-देखते उसके सिर पर मौत का मुगदर लग जाता है ॥ 7 ॥

व्याख्या—आदमी संसार में आकर घोर माया-मोह में लिप्त हो जाता है। वह घर-परिवार सम्हालने की चिन्ता में इतना पड़ जाता है कि यह भूल ही जाता है कि यहां से अचानक जाना है। इस नाशवान संसार से सर्वथा अनासक्त होकर अपने अविनाशी स्वरूप-बोध में रमना जीवन का फल है, परन्तु इसका उसे पता ही नहीं रहता। यदि पता भी पा जाये तो भी वह अपने आप को संसार में इतना जोड़ लेता है कि जीवनभर अविनाशी आत्माराम से बेभान ही रहता है।

जो संसार के प्राणी-पदार्थों को दृढ़ कर अपना मानता है, उन्हीं के मोह में डूबा रहता है और ऐसा करते-करते एक दिन अचानक इस संसार से सदैव के लिए चला जाता है, उसको लक्ष्य करके सद्गुरु कहते हैं कि हे दीवाने ! तू तो मानता था कि यह घर मेरा है, परिवार मेरा है, ये मित्र-सम्बन्धी मेरे हैं। तू इनमें लीन होकर सत्संग के लिए थोड़ा भी समय नहीं निकाल पाता था। तू कहता था कि घर-परिवार को सम्हालने में ही मेरे समय चले जाते हैं। ये मेरे अपने लोग हैं। इनके लिए मेरी अपनी जिम्मेदारियां हैं। मेरे बिना ये कैसे रहेंगे। परन्तु हे मोह-मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ आदमी, तू इस संसार से उठकर अकेले कैसे चल दिया? अपने स्वजनों के प्रति पूरी जिम्मेदारी निभाये बिना बीच ही में तू यहां से कहां चला गया, तेरे इतने-इतने साथी, और तू चलते समय किसी एक को भी साथ न ले जा सका। तेरा नकली नक्शा चेष्टाहीन होकर जमीन पर पड़ा है। तू अपने प्यारे स्वजनों के विलाप करते हुए मुख की ओर भी नहीं देखता है। जिनके लिए तू अपनी जान देता था उनके लिए तू इतना विरत हो गया है। उठो न ! घर की चिन्ता करो। तुम्हारे अपने माने हुए स्वजन रो रहे हैं। उनके आंसू पोंछो। उन्हें सांत्वना दो। उन्हें स्नेह देकर उनकी रक्षा का आश्वासन दो। परन्तु हाय ! यह सब अब सम्भव नहीं है। जो यहां से एक बार उठ गया, वह कभी लौटकर नहीं आया। अदना जीवों की बातें छोड़ो, जो लोग संसार में बहुत प्रसिद्ध हैं क्या वे लौट सके? जिन लोगों को जनता ने भगवान एवं पैगम्बर माना, अपना परम प्रेमास्पद माना, वे भी यहां लौटकर नहीं आ सके। आने का कोई चारा नहीं है।

हम अपने माने हुए शरीर को अनेक पौष्टिक खाद्य पदार्थों का सेवनकर बलवान बनाने के चक्कर में पड़े रहते हैं। जब तक शरीर है इसे उचित खान-पान के द्वारा स्वस्थ रखना देहधारी का कर्तव्य भी है। परन्तु कितने मोहग्रस्त लोग खीर, खांड एवं घृत से ही नहीं अनेक भस्म एवं कीमती-कीमती रस-रसायन सेवनकर इस शरीर को अजर-अमर या कम-से-कम इसे बहुत दिनों तक सुरक्षित रखने की दुराशा करते हैं। परन्तु अनेक यत्न से बहुत लालित-पालित यह शरीर अचानक छूट जाता है। शरीर छूटने की संभावना होते ही लोग उसे खाट से उतारकर जमीन पर लेटा देते हैं और प्राण निकलते ही “ले चल ले चल करते भाई” जीव के निकल जाने पर सब यही कहते हैं कि ऐ भैया, जिस हंसा से नाता था, वह चला गया, अब कोई मिट्टी को रखकर क्या करेगा !

हम अपने माने हुए शरीर के एक-एक अंग के प्रति रागवान होते हैं। आदमी अनेक वस्त्रों एवं अलंकारों से इन्हें सजाता है। शरीर की भयंकर परिणामशीलता का उसे होश नहीं रहता। बहुत प्रकार से सजाये जाने वाले इस शरीर की अन्तिम दशा क्या होती है यह किसी से छिपी हुई नहीं है। यह यदि मैदान में पड़ा रहे तो जानवर फोड़-फोड़कर इसकी दुर्गति कर देते हैं, यदि इसे पानी में डाल दें तो यह कछुआ-मछली आदि का आहार हो जाता है, यदि मिट्टी में गाड़ दिया गया तो यह सड़ जाता है तथा इसे कीड़े-मिट्टी खा लेते हैं और यदि इसे आग में रख दिया गया तो भक्क से जलकर मिनटों में राख हो जाता है। ऐसी है यह अपनी मानी गयी सुरक्षित काया। इसी पर केन्द्रित हैं हमारे सारे अभियान ! कितने धोखे की टट्टी में आदमी जी रहा है !

धन है, जमीन है, मकान है, परिवार है, मित्र हैं, फौज-फक्कड़ है, घोड़े-हाथी हैं, कार-मोटर हैं, मान-अधिकार हैं और पता नहीं कितना-कितना अपना माना हुआ सब कुछ है। परन्तु ध्यान रहे, इनमें से एक वस्तु भी हमने साथ में लायी नहीं है और न चलते समय एक वस्तु साथ में चलेगी। फिर इनका अहंकार करने से क्या फल होगा ! सपने में हम भिखार हैं या राजा, जाग जाने पर

क्या हानि-लाभ ! संसार के ये सपने मनुष्य को छलते हैं। हम मूढ़ हैं जो इन सपनों में छले जाते हैं। संसार की मानी गयी सारी उपलब्धियां अन्ततः झूठी हैं। मोह-मूढ़ मनुष्य संसार के प्राणी-पदार्थों को अपने छाती-पेटे लगाये रखने का हठ करता है जो उसके कभी नहीं हो सकते।

आदमी सांसारिक प्राणी-पदार्थों एवं भोगों से बड़ी लम्बी-लम्बी आशाएं करता है। वह संसार में डूबकर तथा छककर आनन्द लेता है, परन्तु तृप्ति पाये बिना संसार से चला जाता है। वह तृप्त हो भी नहीं सकता। चाहे मनुष्य लाखों वर्ष तक भोगों को भोगने का अवसर पा जाये, परन्तु उसे तृप्ति नहीं मिलेगी। भोगों में किसी को भी तृप्ति नहीं मिलती। जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं है, किन्तु उलटे प्रज्वलित होती है, वैसे भोगों से इच्छाएं बुझती नहीं हैं, किन्तु बढ़ती हैं। अधिकतम लोगों को तो भोग मिलते ही नहीं हैं, कुछ लोगों को मिलते हैं, परन्तु इच्छानुसार नहीं मिलते। और तृप्ति तो किसी की भी नहीं होती। इतने में देहाभिमानीरूपी चूहे पर मौतरूपी बिल्ली कूद पड़ती है। मौत सभी देहाभिमानियों को उनकी अधूरी इच्छाओं के बीच में से ही उठा लेती है। संसार का हर आदमी करने और भोगने की लालसा लेकर ही यहां से जाता है। ऐसा पुरुष दुर्लभ है जिसे ऐसा लगता हो कि मुझे जो कुछ करना था कर लिया और जो कुछ पाना था पा लिया। कृतकार्य और कृतकाम मनुष्य धन्य है। जीवन में पूर्ण सफल वही है जो कृतकार्य एवं कृतकाम है, अर्थात् जिसने सारी कामनाएं त्याग दी हैं।

□

ध्यान दें—गुस्सा अकेले आता है, किन्तु जाते समय अपने साथ अक्ल और इज्जत की खूबसूरती लेकर जाता है।

जिस तरह खौलते पानी में प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता उसी तरह क्रोध की स्थिति में सच को नहीं देखा जा सकता है।

—अज्ञात

क्रोध पर कैसे काबू पायें?

लेखक—श्री ललितप्रभ जी महाराज

मनुष्य के जीवन में दुःख के दो कारण होते हैं। पहला कारण है : अभाव, आपदा अथवा संयोग और दूसरा कारण है : व्यक्ति स्वयं। दूसरे के व्यवहार और स्वभाव के कारण उसके जीवन में जो दुःख आते हैं उनको रोक पाना मनुष्य के हाथ में कम है, लेकिन अपने ही व्यवहार और स्वभाव के कारण आने वाले दुःखों पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है। अपने ही व्यवहार और स्वभाव के कारण मनुष्य दुःख पाता है जिसमें मुख्य कारण है मनुष्य के व्यवहार और स्वभाव में पलने वाला क्रोध।

क्षणिक संवेग है क्रोध

क्रोध हमारे भीतर उठने वाला एक ऐसा संवेग है जो क्षणभर में जगता है और क्षणभर में शान्त हो जाता है। मनुष्य अपने होश-हवास खोकर कुछ समय के लिए एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां वह क्रोध के वशीभूत होकर अपनों और परायों दोनों को नुकसान पहुंचाता है। मैंने इसे क्षणिक संवेग इसलिए कहा क्योंकि कई बार एक पल के लिए व्यक्ति आवेश और आक्रोश में आकर कोई भी निर्णय या कार्य कर बैठता है, पर कुछ पल के बाद ही आत्मविवेक जगने पर उसके हाथ में पश्चाताप के अलावा कुछ भी नहीं बचता।

एक बहिन मुझे बता रही थी, 'जब भी मुझे गुस्सा आता है मैं सीधे अपने बच्चों पर हाथ उठाती हूँ और ताबड़तोड़ उनकी पिटाई कर देती हूँ।' मैंने पूछा, 'फिर क्या करती हो?' वह कहने लगी, 'उसके बाद मुझे अफसोस होता है और मैं रोती हूँ। रोज ही ऐसा होता है बच्चों की पिटाई और मेरा रोना दोनों एक साथ चलते हैं।' वास्तव में यह क्षणिक संवेग है। बच्चों को पीटना क्रोध का प्रकटीकरण है जबकि उसके बाद रोना अपनी गलती का अहसास है। व्यक्ति ऐसी गलतियां बार-बार इसलिए करता है क्योंकि उसका स्वयं पर अंकुश नहीं

है। सच तो यह है कि क्रोध तूफान की तरह आता है और हमें चारों ओर से घेर लेता है। हम विवेकशून्य होकर गाली-गलौज या हाथापाई भी कर लेते हैं और इस तरह हम क्रोध के तूफान में घिर जाते हैं।

क्रोधी आदमी कीड़े, मकोड़े और बिच्छू तक को मार देता है, पर अपने ही भीतर पलने वाले क्रोध को क्यों नहीं मार पाता? मनुष्य अपने जीवन में मूलतः चार वृत्तियों में जीता है और वे हैं—काम, क्रोध, माया और लोभ। मेरे देखे इनमें से काम, माया और लोभ की वृत्तियां तो मनुष्य को आंशिक लाभ और सुख भी देती हैं लेकिन क्रोध एक ऐसी वृत्ति है जिसमें व्यक्ति खुद भी जलता है और दूसरों को भी जलाता है। हकीकत तो यह है कि क्रोधी व्यक्ति अपने भीतर और बाहर एक ऐसी आग लगाता है जिसमें वह औरों को जलाने की कोशिश करता है पर उसे बाद में पता चलता है कि इससे वह औरों को जला पाया या न जला पाया पर खुद तो पहले ही झुलस गया। क्रोध में जलना तो तीली की तरह है जिसे दूसरों को जलाने के लिए पहले स्वयं को जलना होता है।

क्रोध एक : नुकसान अनेक

मैं कई बार सोचा करता हूँ कि क्या धरती पर कोई ऐसा मनुष्य है जिसने अपनी जिन्दगी में कभी क्रोध न किया हो? ऐसे ब्रह्मचारी साधक तो मिल जाएंगे जिन्होंने कभी काम का सेवन नहीं किया हो पर 'क्रोध' तो 'काम' विजेताओं पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। सच्चाई तो यह है कि जब आप क्रोध के नियंत्रण में होते हैं तो स्वयं का नियंत्रण खो देते हैं। सावधान! एक पल का क्रोध आपके पूरे भविष्य को बिगाड़ सकता है। जिन संबंधों को मधुर बनाने में हमें दस वर्ष तक एक दूसरे को सेटिस्फाइड करना पड़ता है वहीं हमारा दस मिनट का गुस्सा उन संबंधों पर पानी फेर सकता है। सफलता के बढ़ते हुए कदमों में केले के छिलके का काम करता

है हमारा गुस्सा। हमारा क्रोध हमें सफलता से हाथ धोने के लिए मजबूर कर देता है। 24 घंटे भोजन करके हम जो शक्ति अपने शरीर में पाते हैं, कुछ मिनट का गुस्सा उस शक्ति को क्षीण कर देता है। जो बच्चे बचपन में ज्यादा गुस्सा करते हैं, बड़े होने पर उनका दिमाग कमजोर हो जाता है।

क्रोध में व्यक्ति दो तरह का हिंसक हो जाता है। कभी वह औरों को नुकसान पहुंचाता है तो कभी स्वयं को। औरों को नुकसान पहुंचाने के लिए वह गाली-गलौज करता है, हाथापाई करता है अथवा किसी शस्त्र से प्रहार भी कर देता है। लेकिन कई बार व्यक्ति इसका उलटा भी कर लेता है। क्रोध में आकर वह अपना सिर दीवार से टकरा देता है। भोजन कर रहा है तो थाली को उठाकर फेंक देता है। बचपन में मैंने देखा है कि हमारे मोहल्ले में एक ऐसा लड़का रहता था जिसे गुस्सा बहुत आता था। एक दिन उसके घर में किसी ने उसे टोक दिया। उस लड़के को गुस्सा आ गया। संयोग से उस दिन उसे परीक्षा देने जाना था किंतु गुस्से में भरकर उसने निर्णय ले लिया कि मैं परीक्षा देने नहीं जाऊंगा। घर के सारे लोग उसे समझा कर हार गये लेकिन वह परीक्षा देने नहीं गया और इस तरह आवेश में आकर लिये गये निर्णय ने उसका पूरा वर्ष बेकार कर दिया। इस तरह के निर्णय लेने के कुछ समय बाद व्यक्ति को भले ही लगता हो कि उसका वह निर्णय गलत था लेकिन वह कुछ कर पाये, उससे पहले ही उसका क्रोध अपना गलत प्रभाव दिखा ही देता है, और ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपना अहित कर बैठा है।

क्रोध के तीन भेद

व्यक्ति तीन तरह का क्रोध करता है। अल्पकालीन क्रोध, अस्थायी क्रोध और स्थाई क्रोध। अल्पकालीन गुस्सा कुछ मिनट या घंटे तक का होता है और उससे माहौल बिगड़ता है। किसी कारण से हड़बड़ी में व्यक्ति कुछ भी कह देता है और कुछ मिनट बाद अफसोस करता है।

मैं मध्य प्रदेश के एक शहर में था। मैंने देखा कि

एक व्यक्ति जो वहां के समाज का अध्यक्ष था, उसका पता ही नहीं लगता कि बात-बात में उसे कब क्रोध आ जाता है? इतना ही नहीं, वह गुस्से में आकर माइक पर, मंच पर कुछ भी बोल देता था। पर वह था इतना निश्चल दिल का आदमी कि या तो दो मिनट बाद ही सामने वाले से माफी मांग लेता अथवा यह कहते हुए मधुर मुस्कान से बात खत्म कर देता कि मैंने कब गुस्सा किया।

अल्पकालीन क्रोध करने वाले लोग किसी बात को ज्यादा लंबा नहीं खींचते। बस दो मिनट के लिए जैसे हवा में गुबार आया हो या पानी में बुलबुला उठा हो ऐसा होता है उनका गुस्सा। ऐसे लोग कभी भावुक हो जाते हैं और कभी कठोर।

जिसे मैं अस्थायी क्रोध कहना चाहता हूं उन लोगों की प्रकृति ऐसी होती है कि वे किसी भी बात को दो दिन तक ढोते रहते हैं। बात छोटी-सी होगी पर उसे खुद ही बढ़ाएंगे और दो दिन तक रूठे रहेंगे। फिर यह प्रतीक्षा करेंगे कि कोई उन्हें मनाये या 'सॉरी' कहे तो वे वापस पहले जैसे हो जाएं। ऐसे लोग पांच-सात दिन तक तो औरों से 'सॉरी' कहलवाने का इंतजार करते हैं, पर उसके बाद खुद ही सीधे और शांत हो जाते हैं।

तीसरी प्रकृति होती है स्थायी क्रोध की। ऐसे लोग मरते दम तक किसी भी बात को ढोते रहते हैं। जैसे किसी ने चार लोगों के बीच अपमानजनक कोई बात कह दी अथवा किसी की शादी में जाने पर सामने वाला व्यक्ति सबसे तो घुलमिल कर बात करे पर उनसे बात करना भूल गए, यदि परिवार के किसी सदस्य द्वारा सहजता में ही कोई व्यंग्यात्मक बात कह दी जाए तो उस श्रेणी के क्रोध में जीने वाले लोग उनकी गांठ बांध लेते हैं और धीरे-धीरे अपने व्यवहार के द्वारा उस गांठ को और भी अधिक मजबूत करते रहते हैं। धीरे-धीरे यह गांठ जो पहले तो एक तरफी होती है पर फिर दो तरफी होकर कई परिवार और समाज में विभाजन करा देती है। जैसे गन्ने की गांठ में एक बूंद भी रस नहीं होता

वैसे ही जो लोग मन में गांठें बांध कर रखते हैं, उनका भी जीवन नीरस हो जाता है।

न बांधे वैर की गांठ

हम एक शहर में थे। किसी महानुभाव ने तपाराधना के उपलक्ष्य में सम्पूर्ण समाज के भोज का आयोजन किया। जिस दिन भोज का आयोजन था उस दिन समाज के कुछ वरिष्ठ व्यक्ति हमारे पास आए और कहने लगे कि 'जिस व्यक्ति के द्वारा आज सम्पूर्ण भोज का आयोजन है, वे दो भाई हैं लेकिन उनका दूसरा भाई व उसका परिवार इस भोज में नहीं आएगा। उन लोगों ने हमसे निवेदन किया कि, साहब, आप चलें और उसे समझाएं। शायद आपके कहने से वह मान जाए।'

उन लोगों के साथ मैं उस महानुभाव के घर गया। उसने मुझे सम्मानपूर्वक बैठाया। बात ही बात में मैंने कहा कि 'आज तो आपके परिवार की ओर से सम्पूर्ण समाज का भोज है।' उसने कहा, 'आप ऐसा न कहें क्योंकि वह मेरा नहीं बल्कि मेरे भाई के घर का है।' मैंने कहा, 'सो तो ठीक है लेकिन आप लोग तो आएं न!' वह तपाक से बोल पड़ा, 'किसी हालत में नहीं।' मैंने पूछा, 'क्यों ऐसी क्या बात है?' वह कहने लगा कि 'सोलह साल पहले भरे समाज में उसने मेरा अपमान किया था तब से आज तक मैंने उसके घर का पानी तक नहीं पीया है।'

मैंने बड़ी सहजता से उस भाई से कहा—'भाई, जरा सोलह साल पुराना कोई कलेण्डर लाना।' मेरी बात सुनकर वह चौंका। उसने कहा, 'आप भी कैसी मजाक करते हैं? सोलह साल पुराना कलेण्डर घर में थोड़े ही रखा जाता है।' मैंने कहा—'महीना बीतता है तो कलेण्डर का पन्ना पलटा जाता है और वर्ष बीतने पर कलेण्डर को ही पलट दिया जाता है। जब सोलह साल पुराना कलेण्डर घर में नहीं है तो सोलह साल पुरानी बातों को क्यों ढो रहे हो।' मेरे समझाने से उसके दिमाग में मेरी बात थोड़ी-सी उतरी। मैंने दूसरे भाई को भी बुलवाया और दोनों को एक दूसरे के हाथ से मिश्री का टुकड़ा खिलाकर पारस्परिक प्रेम स्थापित किया।

यह तो संयोग था कि ऐसा हो गया अन्यथा क्रोध और आवेश में तो बंधी हुई वैर की गांठों को कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो जीते जी वापस खोल पाते हैं। जीवन में इस तरह की स्थिति खड़ा करता है हमारे भीतर पलने वाला क्रोध।

बाहर मुस्कान तो घर में क्रोध क्यों?

कुछ लोगों की कुछ विचित्र आदत होती है। वे बाजार में, ऑफिस में, दुकान में या दोस्तों के बीच सदा प्रसन्न और मुस्कुराते रहेंगे पर घर पहुंचते ही गंभीर और गुस्से से भरे हुए हो जाएंगे। वे छोटी-छोटी बातों पर घर में गुस्सा करेंगे और घर की शांति को भंग करेंगे। आप घर में बड़े हैं तो उसका अर्थ यह नहीं है कि हर समय आप हो-हल्ला करें या अपने बड़प्पन को जताने के लिए घर के वातावरण को कलुषित करें। आपकी बड़ाई इसमें है कि आप घर में अपने परिवार के सदस्यों को इतना प्रेम दें कि वे आपके जाने पर आपकी शीघ्र पुनर्वापसी की कामना करें। आप नहीं जानते कि आप बार-बार गुस्सा करके अपने खुशहाल घर को नरक बना देते हैं और परिवार का हर सदस्य भीतर ही भीतर आपसे टूटा रहता है। फिर स्थिति यह होती है कि जब आप सामने होते हैं तो सब लोग आपसे दबे रहते हैं और आपके बाहर जाने पर आपकी मजाक उड़ाई जाती है। पत्नी कहती है, 'छोड़ो, अब उनकी बातों पर कौन ध्यान दे क्योंकि 'हो-हल्ला' करना तो उनकी आदत ही बन गई है।'

मुझे याद है, एक व्यक्ति था जो गुस्सा बहुत किया करता था। पत्नी भी कम न थी। एक दिन पत्नी ने रात ग्यारह बजे अपने पति को नींद में से उठाया और हाथ में एक दूध का गिलास देते हुए कहा, 'लो दूध पी लो।'

पति ने कहा, 'आज क्या बात है, जीवन में कभी तूने रात को दूध नहीं पिलाया, आज अचानक प्रेम कैसे उमड़ आया।' पत्नी ने कहा, 'जी! छोड़ो प्रेम-त्रेम की बातें। अभी-अभी मैंने कलेण्डर देखा, आज नाग पंचमी है, तो रात को सांप कहां से लाऊं दूध पिलाने। तो तुमको ही...।'

मुझे याद है कि एक व्यक्ति हर समय घर में गुस्से में ही रहता था। एक दिन उसने अपनी पत्नी से कहा, 'मैं पड़ोस के शहर में जा रहा हूँ। दो दिन में वापस लौट आऊंगा।' क्या आप बताएंगे कि उसके ऐसा कहने पर पत्नी ने मन में क्या सोचा होगा? तब शायद उसने सोचा होगा कि दो दिन नहीं बल्कि दस दिन बाद भी आओ तो भी कोई दिक्कत नहीं है क्योंकि तुम जितने बाहर रहते हो, घर में उतनी ही शान्ति रहती है।

यदि कोई शान्त स्वभाव वाला व्यक्ति अपनी पत्नी से दो दिन बाद वापस आने को कहेगा तो पत्नी यही कहेगी कि 'हो सके तो जल्दी लौट के आना क्योंकि तुम्हारे जाने से घर सूनासूना हो जाता है।' आप अपने ही क्रोधपूर्ण व्यवहार से घर को नरक बनाते हैं और शान्तिपूर्ण व्यवहार से घर को स्वर्ग। तिरुवल्लुवर कहा करते थे कि जो लोग आत्मरक्षा और मन की शान्ति चाहते हैं वे अपने जीवन में क्रोध से जरूर बचें।

क्रोध करें, मगर सात्त्विक

हमारा क्रोध तीन तरह का होता है सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। घर की मर्यादाओं को बनाए रखने के लिए अथवा औरों की भलाई के लिए किया जाने वाला क्रोध सात्त्विक क्रोध होता है। इसमें व्यक्ति औरों को सुधारना चाहता है पर किसी का नुकसान करके नहीं।

व्यक्ति का दूसरा गुस्सा होता है राजसिक जो अहंकारमूलक क्रोध होता है। आपने कहा और उसने नहीं माना यानी आपके अहंकार की संतुष्टि नहीं हुई इसलिए आपको क्रोध आया है। कई बार देखा करता हूँ कि ऑफिस में बॉस ने अथवा किसी मैनेजर ने अपने अधीनस्थ कर्मचारी को कोई काम सौंपा। उस दिन उस कार्य की कोई खास जरूरत न थी और वह व्यक्ति उस कार्य को पूर्ण न कर पाया। सांझ को जब मैनेजर को खबर मिली तो उसे गुस्सा आ गया हालांकि उसे भी इस बात की खबर थी कि यह काम कोई खास जरूरी नहीं है। लेकिन वह गुस्सा केवल इस बात के लिए कर बैठा कि मैंने कहा और तुमने नजरअंदाज कर दिया। मेरे देखे

घर के अभिभावकों को अधिकांश गुस्सा लगभग इसी कारण आता है। यह क्रोध होता है अपने अहंकार की संतुष्टि के लिए।

तीसरा क्रोध होता है तामसिक यानी ऐसा गुस्सा जो व्यक्ति केवल दूसरों को नीचा दिखाने के लिए करता है। इसमें व्यक्ति दस लोगों के बीच सामनेवाले को खरी-खोटी सुनाता है और उसकी कमजोरियों को भी सब लोगों के सामने व्यक्त करता है।

लाभ और हानि की दृष्टि से अगर हम गुस्से को देखते हैं तो उसकी हानियां ही ज्यादा नजर आती हैं। क्रोधी व्यक्ति हर ओर से नुकसान उठाता है। स्वास्थ्य से भी और संबंधों से भी। तीव्र क्रोध से जहां शरीर में अल्सर जैसे रोग पैदा हो जाते हैं, वहीं मानसिक तनाव भी पैदा हो जाता है। उच्च रक्तचाप का तो मूल कारण हमारा क्रोध ही होता है। होंठों की मुस्कान जहां हमारे चेहरे के सौन्दर्य को बढ़ाती है, वहीं क्रोध की रेखा सौन्दर्य को मिट्टी में मिला देती है। क्रोध हमारे दिमाग को कमजोर करने के साथ-साथ शरीर को भी कमजोर करता है इसलिए जब हमें कोई दुबला-पतला कमजोर शरीर वाला व्यक्ति मिलता है तो हम तत्काल पूछ लेते हैं—'क्या बात है? गुस्सा बहुत करते हो क्या?' एक बच्चा भी जानता है कि गुस्सा आदमी के शरीर से रक्त को सोख लेता है। बुजुर्ग लोग तो यहां तक कहा करते थे कि गुस्से से भरी हुई महिला अगर अपने आंचल का दूध भी अपने बच्चे को पिलाती है तो वह ज़हर बन जाता है।

मूर्खता से शुरुआत, पश्चाताप पर पूर्ण

गीता कहती है कि क्रोध मूर्खता को पैदा करता है। मूर्खता से स्मृतिभ्रम होता है और स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। जीवन भर याद रखें कि क्रोध की शुरुआत मूर्खता से होती है और उसका समापन पश्चाताप से। क्रोध में व्यक्ति अपना विवेक खो देता है। विवेक खोने के कारण व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और कई बार क्रोधित व्यक्ति ऐसे कार्य भी कर देता है जिनका परिणाम बड़ा गम्भीर होता है। आदमी को यह

पता नहीं लगता कि वह किसको क्या कह रहा है? गुस्से से भरा व्यक्ति अपनी ही संतान को 'सूअर की औलाद,' जैसी पता नहीं कितनी ही गालियां देता है। गुस्से में अपने आप को ही सूअर बना देता है।

मुझे याद है : एक फिल्म हॉल में पति-पत्नी फिल्म देख रहे थे। अचानक पत्नी की गोद में सोया हुआ बच्चा रो पड़ा। वह मुश्किल से आठ-नौ महीने का रहा होगा। उस व्यक्ति ने पत्नी से कहा, 'उसे दूध पिला दो, वह चुप हो जाएगा।' दो मिनट बाद फिर भी बच्चा रोता रहा तो उसने कहा, 'मैंने कहा न, उसे दूध पिलाना शुरू कर दो। सारी फिल्म का मजा किरकिरा हो रहा है।' पत्नी ने कहा—'मैं बहुत कोशिश कर रही हूँ पर यह पी नहीं रहा है।' पति थोड़ा गुस्सैल प्रकृति का था। उसने कहा, 'एक थप्पड़ मारो' यह क्या इसका बाप भी पीएगा।'

इसीलिए गीता ने कहा कि क्रोध से स्मृतिभ्रम होता है और उससे बुद्धि का नाश होता है। क्रोध करना बुरा है, शायद क्रोध करने वाला हर व्यक्ति भी यही बात कहेगा। क्रोध पर विजय प्राप्त करने के कुछ सूत्रों को समझने से पूर्व यह जानना जरूरी है कि आदमी को गुस्सा आखिर क्यों आता है? आम तौर पर गुस्सा करने वाले लोगों से पूछा जाए तो उनका एक ही जवाब होता है—'साहब, कोई झूठ बोले या गलती करे तो गुस्सा आता है।' मेरे देखे यह जवाब थोड़ा गलत ही है। व्यक्ति को अगर गलतियों पर गुस्सा आए तो केवल औरों की गलतियों पर ही क्यों? खुद की गलतियों पर क्यों नहीं। सच तो यह है कि दूसरे की छोटी-सी गलती को भी हम बर्दाश्त नहीं कर पाते और अपने अहंकार की संतुष्टि के लिए गुस्सा कर बैठते हैं। अगर गलती पर गुस्सा आए तो औरों की गलती पर ही क्यों? खुद से गलती होने पर हम क्या करते हैं? हम सड़क पर चले जा रहे थे। पांव पर ठोकर लगी और अंगूठे से खून बहने लगा। क्या आप मुझको बताएंगे कि उस वक्त आप किस पर गुस्सा करेंगे? भोजन कर रहे थे कि थोड़ी-सी असावधानी के कारण गाल या जीभ दांत के

नीचे आ गई। उस स्थिति में आप किस पर गुस्सा करेंगे?

उपेक्षा : क्रोध की जननी

जब व्यक्ति की अपेक्षा उपेक्षित होती है तो उसे क्रोध आता है। अपेक्षा और क्रोध का गहरा रिश्ता है। पता ही नहीं लगता कि थोड़ा-सा उपेक्षित होते ही व्यक्ति कितना विकराल रूप ले लेगा? पहले हम सम्बन्ध बढ़ाते हैं और फिर संबंधों में अपेक्षा पालते हैं। जब-जब अपेक्षा उपेक्षित होती है तब-तब व्यक्ति को बुरा लगता है। फिर संबंधों में दरार पड़ना शुरू हो जाता है। आप अपने खास दोस्त से यह अपेक्षा रखते हैं कि जब उसका जन्मदिन हो तो आपको याद करे और साथ ही यह भी अपेक्षा रखते हैं कि आपका जन्मदिन हो तो भी वह आपको शुभकामना का संदेश देने का ध्यान रखे। अगर उस दिन किसी कारणवश वह भूल गया और तीन दिन बाद फोन पर आपको शुभकामना दी तो आपको लगेगा कि उसकी जिंदगी में आपका कोई मूल्य नहीं है और आप उपालम्भ दे बैठेंगे।

लोगों की अपेक्षाएं अलग-अलग तरह की होती हैं और यह जरूरी नहीं है कि हर व्यक्ति की अपेक्षाएं पूरी कर दी जाएं। एक ही व्यक्ति को कई लोगों से अलग-अलग अपेक्षाएं हो सकती हैं। आदमी चाहता है कि मेरे अनुसार परिवार जिए, समाज जिए। जिस ट्रस्ट में मैं ट्रस्टी हूँ वहां मेरा ही दबदबा चले। अगर चार दोस्तों के बीच बैठा हूँ तो मेरी ही बात सुनी जाए। पत्नी को जैसा कहूँ, हूँ-ब-हूँ वह वैसा ही करे—पता नहीं ऐसी कितनी ही तरह की अपेक्षाएं होती हैं। हर व्यक्ति का सोचने का तरीका अलग होता है और व्यक्ति अपनी उसी सोच और धारणा के अनुसार निर्णय लेता है।

एक छात्र जिसके परिवार को उससे पूरी अपेक्षा थी कि वह इस वर्ष परीक्षा की मेरिट लिस्ट में जरूर आएगा। संयोग से उसे इसके लिए जरूरत से दस अंक कम मिले तो इसके लिए परिवार में उसे डांट मिली और कहा गया कि तुमने पूरी मेहनत नहीं की होगी। वहीं

दूसरी ओर उनके पड़ोसी का बेटा चालीस प्रतिशत अंक लेकर आया तो भी वे लोग मिठाई बांट रहे थे। दरअसल उन्हें उसके पास होने की उम्मीद भी नहीं थी।

अपेक्षा-उपेक्षा का मनोविज्ञान

अपेक्षा और उपेक्षा का भी अपना एक विज्ञान है। अगर आपने ध्यान दिया हो तो देखा होगा कि यदि कोई अपरिचित व्यक्ति आपकी उपेक्षा करे तो आपको गुस्सा नहीं आता पर अगर खास परिचित आदमी आपकी उपेक्षा करे तो आप तत्काल क्रोधित हो उठते हैं। लोग यह अपेक्षा पाल लेते हैं कि दिल्ली में हमारा रिश्तेदार है। हम तो जब भी दिल्ली जाएंगे, वह हमें पूरी दिल्ली जरूर घुमाएगा। संयोग से आप उसके घर चले गए। घूमना तो दूर की बात, वह आपके पास पूरा बैठ भी नहीं पाया क्योंकि वह अपने ऑफिस के कार्यों में उलझा हुआ था। उसके इस व्यवहार ने आपको दुःखी और क्रोधित कर दिया। उपेक्षित अपेक्षा हमेशा गुस्से का निमित्त बनती है। अच्छा होगा कि हम औरों से अपेक्षाएं पालने की बजाय अपने आपसे अपेक्षा पालें।

अभी हम जयपुर में थे। एक महानुभाव अपनी पत्नी के साथ हमसे मिलने के लिए आए। बातचीत के दौरान उनसे भोजन करने के लिए आग्रह किया गया। उन्होंने कहा—‘साहब, मेरी पत्नी की बुआ का बेटा यहीं रहता है। हमें उनके यहां भी जाना है, अगर उनके यहां खाना नहीं खाया तो उन्हें बुरा लगेगा।’ मैंने कहा, ‘जैसी आपकी मर्जी।’ सांझ को वापस आए तो कहने लगे, ‘साहब, हम भोजन यहीं करेंगे।’ मैंने कहा, ‘क्या मतलब?’ थोड़े झल्लाते हुए कहने लगे, ‘साहब, पता नहीं, कैसे आदमी हैं? खाने का तो उन्होंने पूछा ही नहीं, केवल चाय-कॉफी की मनुहार करते रहे।’ मैंने देखा कि उनके मन में सामने वाले के प्रति थोड़ी-सी खटास पैदा हो गई थी। मैंने बात को संवारते हुए कहा, ‘हो सकता है कि सामने वाले ने यह सोचा होगा कि गुरुजनों के यहां से आए हैं तो भोजन तो करके ही आए होंगे।’

कई बार व्यक्ति औरों की उपेक्षा का शिकार होकर अपने आपको अशांत कर लेता है और तनावग्रस्त हो जाता है। अगर हम किसी के द्वारा दिखाई गई उपेक्षा को सही अर्थ में लें तो वह हमें गुस्सा नहीं दिलाएगी अपितु हमारे स्वाभिमान को जाग्रत कर जीवन में कुछ कर गुजरने का मौका देगी।

ईगो को कहें ‘गो’

व्यक्ति के अहंकार को जब चोट लगती है तो उसे गुस्सा आता है। जब तक तुम्हारा अहंकार संतुष्ट होता रहेगा, तुम सामने वाले से खुश ही रहोगे किन्तु अहंकार को चोट लगते ही तुम गुस्सा कर बैठोगे। अहंकार क्रोध का पिता है। क्रोध का एक और भी कारण है और वह है ‘आलोचना’। किसी ने अगर हमारे लिए विपरीत टिप्पणी कर दी तो हम तत्काल गुस्सा कर बैठेंगे। लोगों का तो काम है औरों पर अंगुलियां उठाना और दूसरों की बातें करना। जब भी दो-चार लोग आपस में बात करते हैं तो वे दूसरों के लिए हमेशा विपरीत टिप्पणी किया करते हैं। परिणामस्वरूप मामला सुलझने की बजाय और भी अधिक उलझ जाता है। अगर आठ लोग किसी बिंदु पर निर्णय करने के लिए एक जगह बैठे हैं और यदि वे पहले से ही सोच कर बैठे हैं कि हमें इस मामले को उलझाना है तो वे उसे कभी भी सुलझा नहीं सकेंगे। यदि वे पहले से ही उसे सुलझाने की सोचते हैं तो किसी भी बात को सुलझाने में दो मिनट लगते हैं। शांतिपूर्ण ढंग से समाधान करने पर समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। साथ ही क्रोध से भी नष्ट होने वाले संबंधों को भी सुरक्षित रखा जा सकता है।

सारी कहें, सुखी रहें

अगर किसी कारणवश कभी झगड़ा भी हो जाए तो वह केवल विचारों के पारस्परिक टकराव से ही होता है और फिर वह विकराल रूप लेकर आपके जीवन को प्रभावित भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में दो में से अगर एक व्यक्ति अपने मन के आवेग को नियन्त्रित रखता है तो मामला जल्दी शांत हो जाता है। आप झगड़े को टालने की कोशिश करें और यदि कोई छोटी-सी

बात हो तो 'सॉरी' कहकर सलटा लें। अगर हमारे झुकने से मामला शांत हो रहा हो तो झुकना बुरी बात नहीं है। अगर सामने वाला हो-हल्ला कर भी रहा है तो भी आप शांति से जवाब दें। छोटी-सी बात को झगड़े का रूप कभी न दें क्योंकि कोई भी झगड़ा चिंगारी के रूप में शुरू होता है और दावानल बनकर खत्म होता है। पता नहीं गुस्से में व्यक्ति कैसे-कैसे काम कर बैठता है? आदमी गुस्से में आकर अपने बेटे को मार देता है। परिवार को तहस-नहस कर देता है। प्रेमी भी अपनी प्रेमिका पर तेजाब छिड़क देता है। और तो और मिट्टी का तेल डाल कर खुद के ही तीली लगा देता है। गुस्से में आदमी कौन-सा अनर्थ नहीं कर बैठता?

गुस्से को आप कभी भी आदत न बनने दें। अगर हम रोज-ब-रोज गुस्सा करेंगे तो हमारा गुस्सा प्रभावहीन होता जाएगा और धीरे-धीरे हमारे मित्र भी कम होते जाएंगे। लोग कभी किसी गुस्सैल व्यक्ति को अपने सामने देख कर भले ही कुछ बोलें या न बोलें पर पीछे से उसका सब उपहास ही उड़ते हैं। क्रोधी से तो वैसे ही लोग कन्नी काट कर रखते हैं। जिसको बोलने का विवेक नहीं, उससे भला कौन माथा लड़ाये? बैल के सींग में कौन जान बूझकर सिर मारे? छोटी-मोटी बातों को लेकर घर में महाभारत न मचायें। सबसे अपनी ओर से प्रेम से और मधुर वाणी से बोलें ताकि आपको जिंदगी में औरों से प्रेम मिल सके।

जिस बात को आप गुस्से में भरकर कड़वे शब्दों में कह रहे हैं, दो पल ठहरें अपने हृदय को प्रेम से भरकर उसी बात को मधुर शब्दों में कहने की कोशिश करें। आपकी बात और अधिक प्रभावपूर्ण हो जाएगी। अगर सामने वाला व्यक्ति बहुत ज्यादा गुस्से में है तो आप विनम्रतापूर्वक शांत रहें। क्रोध के वातावरण में जितना मौन रखा जाए उतना ही लाभदायक है। पर ध्यान रखें कि आपका मौन इस तरह का भी न हो कि सामने वाला अपने आपको उपेक्षित समझे और उसका गुस्सा दुगुना हो जाए। जो क्रोध चिंगारी के रूप में पैदा होता है, उसे कभी भी दावानल न बनने दें।

सहन करें, कड़वे बोल

औरों के द्वारा गलती करने पर उन्हें प्रेम से समझाने की कोशिश करें। अगर आप ऑफिस पहुंचे और पहुंचते ही किसी बात पर अपने कर्मचारियों पर झल्लाने लगे तो कर्मचारी यही सोचेंगे कि 'लगता है 'बॉस' आज बीवी से लड़कर आए हैं। अतः वहां न चली तो यहां चला रहे हैं।' घर का गुस्सा ऑफिस में न ले जाएं और ऑफिस का गुस्सा घर पर न उतारें। कई बार आपने किसी गुस्सैल व्यक्ति के लिए यह कहते हुए सुना होगा, 'पता नहीं यार, सुबह-सुबह किससे माथा लड़ गया कि उसने पूरा दिन ही खराब कर दिया।'

दूसरों की छोटी-छोटी गलती को नजरअंदाज करें। भगवान महावीर जिनकी हम पूजा करते हैं उनके कान में कीलें ठोंकी गईं तब भी वे शांति से उन्हें सहन करते रहे। किन्तु हम उनके अनुयायी होकर भी किसी के दो कड़वे शब्दों को क्यों नहीं सहन कर सकते हैं? कहते हैं, जब शिशुपाल का जन्म हुआ तो आकाशवाणी हुई थी कि शिशुपाल का वध कृष्ण के हाथों होगा। शिशुपाल की मां भगवान कृष्ण के पास पहुंची और उनसे वचन मांगा कि आप मेरे पुत्र का वध नहीं करेंगे। कृष्ण ने महानता दिखाई और कहा, 'मैं तुम्हें ऐसा वचन तो नहीं दे सकता, पर तुम्हारे पुत्र की निन्यानबे गलतियों को माफ करने का वचन देता हूं।' कृष्ण ने ऐसा ही किया। कृष्ण अगर किसी की निन्यानबे गलतियों को माफ कर सकते हैं तो हम किसी की नौ गलतियों को माफ करने की उदारता क्यों नहीं दिखा सकते?

(क्रमशः)

निज कर लागे निजहि तन, अंगुरि गई निज आँखि ।
दशन चबाई जीभ निज, काको क्रोध करि भाखि ॥
तैसे सबहिं विचारिये, क्रोध न करिये भाय ।
सब तेरे तू सबन का, काको जानि रिसाय ॥
—सद्गुरु श्री पूरण साहेब

चित्त की उदासी का कारण

(परम पूज्यवर गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा दिनांक 17-09-2004 कबीर संस्थान, इलाहाबाद में ध्यान शिविर के अवसर पर दिया गया प्रवचन।— प्रस्तुति श्री रामकेश्वर जी)

पूजनीय संत समाज, देवियो तथा देवताओ! मनुष्य के मन में उदासी क्यों रहती है? उसके अन्दर में असंतोष, अवसाद, पीड़ा और अभाव का अनुभव क्यों होता है? क्योंकि ज्ञान उसे नहीं है। वह मानो बर्फ को भूनकर खाना चाहता है। अगर कोई बर्फ को भून कर खाना चाहे तो यह उसका कितना बड़ा अज्ञान होगा। आप बर्फ भूनकर खाना चाहो तो उसको जैसे ही आग पर रखोगे वैसे ही वह खत्म हो जायेगा फिर आप उसे खाओगे कैसे। दुनिया के भोगों को भोगकर जो आत्मसंतुष्टि चाहेगा, वह आत्मसंतोष कब पायेगा। जो बाहर से कुछ पाकर अपने में भरना चाहेगा, वह भरेगा कैसे।

प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष ये तीन विषय हैं। आंख, नाक, कान, जीभ और चाम ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। मन के सहित इन इन्द्रियों से हम जितना जानते हैं वह प्रत्यक्ष है। जिसमें इन्द्रियों से कोई संबन्ध नहीं होता बल्कि जो मन की केवल अवधारणा है वह परोक्ष है और जहां पर इन्द्रियां विश्राम पा गयीं और मन भी विश्राम पा गया, वह अपरोक्ष है। इसप्रकार प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष ये तीन विषय हैं। इन्हीं तीनों पर आज कुछ विचार किया जायेगा। पहले हम प्रत्यक्ष को लें।

अविद्या के कारण कुछ लोग प्रत्यक्ष में भटकते हैं, कुछ लोग परोक्ष में भटकते हैं और अपरोक्ष को तो लोग समझते ही नहीं हैं। इसीलिए अवसाद, पीड़ा, संताप और क्लेश है। जीवन भर आदमी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियां, पद और लौकिक उपलब्धियों से अपने को तृप्त करना चाहता है। उसका यह प्रयास जितना होता है उतनी उसकी अतृप्ति बढ़ती है और उतना ही उसका असंतोष भी बढ़ता है और अतृप्ति तथा असंतोष

में ही शरीर छोड़ देना पड़ता है। “परै न पूरि दिनहु दिन छीना” जो कामनाओं के अधीन है, वह कामनाओं के वश में होकर “जायते यत्र तत्र” जगह-जगह भटकता रहता है। उपनिषद् में कहा गया है कि ऐसे लोग जगह-जगह भटकते रहते हैं। जगह-जगह वे जन्मते-मरते रहते हैं लेकिन जिनकी कामनायें यहीं समाप्त हो गयीं हैं वे तो कृतार्थ हो जाते हैं।

कामनाओं के अधीन होकर जीव भटकता है। मन में संताप क्यों है? क्योंकि कामना है। लेकिन यह भी आप जान लीजिए कि जीवन में कामना की जरूरत भी है। यह शरीर बिना कामना के चल नहीं सकता इसलिए कामना की आवश्यकता है लेकिन कामना का विश्लेषण और परिशोधन होना चाहिए। उदाहरण लीजिए कि आपके पास कुछ रुपये हैं और आपको कुछ काम करना है तो आपको चाहिए कि उन रुपयों के अन्दर ही अपनी कामना रखकर आप काम करें। अगर ऐसा आप करेंगे तो आपको पीड़ा नहीं होगी और जितनी उपलब्धि नहीं है, जितनी शक्ति नहीं है उससे अधिक कामना करेंगे तो निश्चित है आप पीड़ित होंगे। जितना अर्जन है उसके अन्दर ही अगर विसर्जन है तो आपको संताप नहीं होगा।

यहां यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि रुपये की चिंता ही क्यों की जाये? काम करने की चिंता क्यों की जाये? यह बात अलग है। कोई रुपये से सम्बन्ध न रखे और काम भी न करे तो यह अच्छा है लेकिन यह सामान्य नहीं है किंतु यह अपवाद है। हर गृहस्थ को घर बनाना पड़ेगा। कोई साधु है तो उसको भी आश्रम बनाना पड़ता है। भोजन, कपड़े, आवास और औषधि का उपयोग सबको करना पड़ेगा। गृहस्थ को अपने

बाल-बच्चों की शादी-विवाह की जो जिम्मेदारियां हैं उनको निपटाना पड़ेगा।

जो सामान्य है, उसी पर विचार किया जाता है। कोई व्यक्ति मकान न बनाये, ठीक है लेकिन खाना-पीना तो उसको भी पड़ेगा। तो मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी कामनाओं को संयत रखे और उसकी जितनी उपलब्धियां हैं उनके अन्दर ही में बरताव करे। जो प्राप्त है उसका बरताव करे और जो अप्राप्त है उसकी कामना न करे।

यह भी शंका हो सकती है कि अप्राप्त की कामना अगर न करे तो उसकी प्रगति ही नहीं होगी क्योंकि आदमी के मन में पहले कामना होती है तभी वह परिश्रम करता है और तभी प्रगति होती है। तभी धन बढ़ता है। लेकिन यह जान लेना चाहिए कि केवल कामना से प्रगति नहीं होती है। कामना से तो जी जलता है। आप परिश्रम करें और परिश्रम में जो मिले उतने ही की कामना रखें। आप खूब परिश्रम करें लेकिन खूब परिश्रम करने का मतलब यह नहीं है कि चौबीस घंटा उसी में नधे रहें। हां, समय से करें और डट कर करें। समय के बाद उसको छोड़ दें और बाकी समय में अध्ययन, ध्यान और चिंतन करें जिससे कल्याण हो। कल्याण का काम बुढ़ापा के लिए न छोड़ें कि बुढ़ापा में करेंगे। उसको आज ही से करें क्योंकि एक तो यही ठिकाना नहीं है कि बुढ़ापा आयेगा ही और बुढ़ापा आ ही जायेगा तो उसमें क्या कर लेंगे। जीवन भर खुराफात करेंगे तो वे खुराफाती संस्कार आपको बुढ़ापा में भी बैठने नहीं देंगे।

बुढ़ापा जब आता है तब शरीर में शिथिलता बढ़ जाती है, आलस्य रहने लगता है। बुढ़ापा में आप परेशान रहेंगे फिर साधना कैसे कर पायेंगे? इसलिए आज ही से आप साधना करते चलें। इसके लिए समय निकालें। केवल धन्धे में ही समय न बितावें।

साधना के लिए कम से कम एक घंटे का समय तो सबको निकालना ही चाहिए और उतने समय के लिए अकेले हो जाना चाहिए। फिर आप स्वाध्याय करें,

चिंतन-मनन करें, ध्यान करें और धीरे-धीरे इस समय को और बढ़ायें। एक घंटे से इसको डेढ़ घंटे, दो घंटे और तीन घंटे तक बढ़ाना चाहिए। जब काम करें तब परिश्रम से करें और बाकी समय में काम-धाम को छोड़कर स्वाध्याय और साधना करें।

यह सारा संसार प्रत्यक्ष विषय है और यह सारा संसार हमारे चित्त में प्रतिबिम्बित होता है। एक चित्त होता है और एक चेतन होता है। अविद्यावश चित्त और चेतन एक ही लगता है। ऐसा भ्रम होता है कि चित्त और चेतन दो नहीं एक ही है लेकिन यह अविद्या के कारण से लगता है। चित्त वह है जो संसार को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। उसको चाहे चित्त कहो, मन कहो, और चाहे बुद्धि कहो बात एक ही है। वही हमारे सामने संसार को प्रस्तुत करता है।

ऐसा भ्रम होता है कि जो कुछ ख्याल आता है वह ख्याल और उस ख्याल को देखनेवाला अर्थात् द्रष्टा मैं, दोनों एक ही है और यह अविद्या के कारण होता है। इसके लिए सद्गुरु और संतों से जान-समझकर विश्लेषण करना चाहिए कि चित्त और चेतन एक नहीं है। चित्त अलग है और चेतन अलग। चित्त मन है और चेतन 'मैं' हूं।

मन एक परदा है जिसपर जगत प्रतिबिम्बित होता है। सुषुप्ति की अवस्था में मन बीजरूप में रहता है वृत्तिरूप में नहीं रहता है। और तब परदा भी नहीं रहता है। इसलिए जगत उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होता है और हम जगत को नहीं जानते हैं। हमारे चित्तरूपी परदे पर जगत का जितना हिस्सा प्रतिबिम्बित होगा उतना हिस्सा हम जानेंगे, बाकी को नहीं जानेंगे। चित्त और चेतन यानी मन और आत्मा अलग-अलग है। इसीलिए मन को स्ववश करना है। अपने से जो अलग की वस्तु होती है, उसीपर अपनी अधीनता करने की बात सोची जाती है। मन हमसे अलग है। उसी को स्ववश करना है। चित्त और चेतन एक नहीं है। जो कुछ याद होता है वह मैं नहीं हूं। जो याद होता है वह जड़ दृश्यों की परिछाई है और उसी में हम रात दिन अपने को छलाते रहते हैं।

जो याद होता है, उसी में हम चिपके रहते हैं। इसी को योगदर्शन की भाषा में अस्मिता कहते हैं। अस्मिता का अर्थ है अहंकार और चित्त तथा चेतन का संयोग ही अस्मिता है। चित्त में चेतन तदाकार होता है। जो कुछ याद होता है, लगता है कि वह मैं ही हूँ। वह मेरा स्वरूप ही है।

क्रोध आया तो लगता है कि मैं क्रोधमय हूँ। काम आया तो लगता है कि मैं काममय हूँ। लोभ आया तो लगता है मैं लोभमय हूँ। इसीप्रकार दुःख आया तो लगता है मैं दुःखमय हूँ। “जा क्षण में वृत्ति जौन, ता क्षण में रूप तौन” जिस क्षण में जो वृत्ति रहती है, उस क्षण में वही वृत्ति अपना रूप लगता है। दुःख आया तो मन की प्रतिकूलता हुई। दुःख आया तो वह चित्त में व्याप्त हो गया। तब लगता है कि दुःख और मैं अलग-अलग नहीं, एक ही हूँ लेकिन दुःख मुझसे अलग एक प्रतिकूल स्मृति है। और अनुकूल-प्रतिकूल भी एक कल्पना है। जैसे अभी यदि पानी बरसे तो मन में एक अनुकूल वेदना होगी। क्योंकि अभी गरमी है और पानी की आवश्यकता है, किन्तु हमारा कोई विशेष काम हो उस समय पानी बरसे या माघ-पौष ठंडी के दिनों में पानी बरसे तो प्रतिकूल वेदना होगी। वेदना का अर्थ है अनुभव। सुख-दुःख, हानि-लाभ का अनुभव। वस्तुतः यह सब हमारी मान्यता है। मान्यता से ही सुख-दुःख, हानि-लाभ होते हैं।

अपनी मान्यता का हमें विश्लेषण करना चाहिए। अपने चित्त में हमें चिपकना नहीं चाहिए किंतु चित्त को अलग समझना चाहिए और इसको जो बहुत गहराई से बराबर सोचता रहता है, उसको धीरे-धीरे अनुभव होने लगता है कि चित्त अलग है और मैं अलग हूँ। चित्त और चेतन की पृथक्ता उसको स्पष्ट हो जाती है। फिर तो चित्त में उठते हुए जो भी स्मरण हैं वे अलग लगते हैं। उन स्मरणों के हर्ष-शोक ठण्डे हो जाते हैं और धीरे-धीरे वृत्ति उठना भी बन्द होने लगता है और बन्द होते-होते शून्यता की डिग्री में भी पहुँच जाता है। साधना का काम कोई करे तो सफलता होगी ही।

और कोई अगर काम ही न करे तब क्या सफलता होगी? लोग साधना में मेहनत नहीं करना चाहते। मेहनत करने की कौन कहे, साधना की ऐसी बातों को लोग पहले तो सुनना ही नहीं चाहते और दूसरी बात यह भी है कि साधना की बातें सुनने की जगहें भी बहुत कम हैं।

धर्म के क्षेत्र में जहां प्रवचन होते हैं वहां पचास से सत्तर प्रतिशत तक बातें तो देवता या भगवान की महिमा में कही जाती हैं। कहा जाता है कि भगवान बड़ा समर्थ है। प्रभु सब कुछ है। प्रभु का नाम लो, बस बेड़ा पार हो जायेगा। प्रभु ने अजामिल को तारा, गज को ग्राह से बचाया, गणिका को तारा। इस प्रकार की कहानियां खूब कही जाती हैं और प्रभु की खूब महिमा बखानी जाती है। कहा जाता है कि अनन्त ब्रह्माण्ड नायक तो प्रभु हैं। वे ही जो चाहे सो करे। उसी की सब लीला है, उसी का सब लीला विस्तार है। उसी की सब माया है। यही सब कहते-कहते अस्सी-नब्बे प्रतिशत समय समाप्त हो जाता है।

“तुम कौन हो, क्यों दुखी हो” इसकी तो चर्चा ही नहीं होती है और पूरी सभा समाप्त हो जाती है। कहीं चर्चा हुई भी तो बहुत हल्के रूप में हो गयी क्योंकि वहां के प्रवक्ता को इसका बहुत ज्ञान भी नहीं है। आध्यात्मिक विषय का मनन-चिंतन उपदेशों में मिलना बहुत दुर्लभ है। भगवान और भवानी की महिमा खूब है और इसी में प्रवचन का समय समाप्त हो जाता है। उसमें कुछ सात्त्विक भावनाएं जगती जरूर हैं लेकिन बोध नहीं होता है क्योंकि चिंतन-मनन स्थूल और बहिर्मुखी है।

यह बड़ी सुखद घटना है कि पुराकाल में आज से हजारों वर्ष पूर्व इस पूरे भूमण्डल पर हमारे यहां उपनिषदों का जैसा चिंतन हुआ है वैसा चिंतन विश्व में कहीं नहीं हुआ। और वह चिंतन इतना यथार्थ हुआ है कि क्या पूछना! लेकिन उसका विस्तार नहीं हुआ। पंडितों ने उसको फँलाया नहीं क्योंकि उससे उनको लौकिक लाभ नहीं होने वाला था।

कर्मकाण्ड की पुस्तकों की ही रचना हुई और उसी का विस्तार हुआ। महिमाओं का विस्तार हुआ क्योंकि महिमा और कर्मकाण्ड से उनको लाभ था। उपनिषदों के चिंतन का विस्तार होना चाहिए। इसी प्रकार तथागत बुद्ध, महावीर स्वामी, कबीर साहेब और शास्त्र के चिंतन का विस्तार करना चाहिए तभी यथार्थ बोध होगा। पुराणों और महाकाव्यों की महिमाओं में उलझने से यथार्थ बोध नहीं होगा। पुराणों और महाकाव्यों में भी ऐसी बातें हैं जो सार हैं लेकिन थोड़ी-थोड़ी हैं। दो-चार घंटे पढ़ने के बाद अध्यात्म की एक रेखा कहीं मिल जाये तो मिल जाये और वह रेखा भी बहुत सावधान न रहो तो समझ में नहीं आती है और सरक जाती है।

मैं कह रहा था कि एक तो अध्यात्म का विषय सुनने को ही नहीं मिलता है और दूसरी बात सुननेवालों की जिज्ञासा भी होनी चाहिए लेकिन वह भी बहुत कम है। कुछ सुन भी लिए तो उसपर वे परिश्रम करना नहीं चाहते हैं। उसपर चिंतन और मनन ही वे करना नहीं चाहते हैं।

वैज्ञानिक लोग विज्ञान के एक-एक विषय की खोज में अपने आप को पूरा समर्पित कर दिये तभी वे कुछ सफलता और उपलब्धि हासिल कर पाये। अमेरिका की एक महिला रेडियम तत्त्व की खोज के लिए एक बार नहीं बल्कि तीस बार हजारों-हजारों टन मिट्टी छानी थी। तब रेडियम तत्त्व मिला। रेडियम को तत्त्व तो कहते हैं लेकिन वह तत्त्व है नहीं। वह बदलकर शीशा हो जाता है। यह यहां के विषय से अलग है। यहां तो वैज्ञानिकों के समर्पण और परिश्रम की बात की जा रही है कि वे लोग एक-एक विषय के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिये। अपनी प्रयोगशाला में एकान्त में वे बैठते हैं तो उसी का चिंतन वे करते हैं।

इसी प्रकार संगीत वाले संगीत में ही अपना जीवन खपा देते हैं तब कहीं वे संगीत में महारत हासिल कर पाते हैं। एक-एक बाजा बजाने में वे अपना पूरा जीवन खपा देते हैं। इसी प्रकार आपको भी अध्यात्म में सफलता मिलेगी आप जोर से लगिये तो! हां, अध्यात्म

में कुछ जरूरी बातें हैं जिनको जानना और करना जरूरी है। एक तो यही जरूरी है कि ऐसे सहायक सदगुरु मिलें और फिर दूसरी जरूरी बात यह है कि जोर से लगें तब सफलता होने में कोई देर नहीं है।

यह जगत प्रत्यक्ष विषय है और मन की अवधारणा परोक्ष है और अपना स्वरूप स्वयं अपरोक्ष है। सारे संसार के लोग हर समय प्रत्यक्ष में ही डूबे रहते हैं। घर है, परिवार है, शरीर है, धन्धा है और खाना-पानी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय हैं। इन्हीं में लोगों की रति-गति रात-दिन चलती रहती है। इन्हीं के हानि और लाभ में, सुख और दुख में, प्रिय और अप्रिय के संयोग में सबका चित्त लगा रहता है। अपनी तरफ ख्याल ही नहीं रहता है। अपनी तरफ किसी को बोध ही नहीं है, समझ ही नहीं है, ख्याल ही नहीं है कि मैं इन सबसे अलग शुद्ध चेतन हूं। स्थूल पदार्थों में ही उनका मन हमेशा रमा करता है और इसी के हानि-लाभ में आदमी अवसादग्रस्त रहता है। जहां-जहां वह पकड़ता है, वह मानो पानी का बुलबुला ही ठहरता है।

मान लीजिए कि आप समुद्र में गिर पड़े हैं और उसमें बड़े-बड़े झाग हैं उसी में आप डूब रहे हैं। फिर आप झाग पकड़कर निकलना चाहें तो आपका निकलना असम्भव है क्योंकि झाग पानी का फेना है। वह कोई ठोस पदार्थ तो है नहीं कि उसको पकड़कर निकला जा सके।

इसी प्रकार इस संसार-समुद्र में मनुष्य पड़ा डूब रहा है लेकिन झाग पकड़कर निकलना चाहता है। प्राणी-पदार्थ जितने हैं झाग हैं, बुलबुले हैं और मृग-मरीचिका हैं। इनको प्राप्त करके आदमी संतुष्ट होना चाहता है। जवानी बड़ी संतोषप्रद लगती है लेकिन वह ऐसी है कि आयी और गयी। और जवानी में जब रहे भी तब काम क्या किये? वही काम किये जिससे असंतोष बड़े। जवानी में आप भोगों में लगे, उन्मादी हुए और यहां तक कि मैथुन भोग में आर-पार करना चाहे लेकिन उसका परिणाम क्या हुआ—दृढ़ संस्कार, भयंकर कामना, यही उसका फल हुआ और उसी में पड़कर जिंदगीभर पीड़ा ही पीड़ा भोगते रहे।

आप धन कमाने में उल्टा-सीधा और उचित-अनुचित कुछ नहीं सोचे। एक जोश आ गया कि दूसरे का हक मारो और अपना धन बढ़ाओ। क्रूरता और अशिष्टता का व्यवहार करने लगे। आपका सब कुछ असभ्यतापूर्ण हो गया। कुछ उपलब्धियां हो गयीं तो उसके अहंकार में इतना इतराते हैं कि पैर मानो जमीन पर पड़ते ही नहीं लेकिन थोड़े ही दिनों में बिलबिलाना पड़ेगा। किसी की सत्ता नित्य रही नहीं है। तपने वाले बड़े-बड़े लोग मिट्टी में मिल गये।

इस प्रत्यक्ष विषय में आदमी डूबा है और इसी में वह संतोष चाहता है तो क्या कभी उसको संतोष होगा? कभी नहीं होगा। संतोष तो विवेक से होगा। “इनके भोग अधिक मिल जायें, और इनका मैं खूब उपभोग करूँ” इस दृष्टि से कभी संतोष नहीं मिलेगा किंतु जो कुछ उपलब्ध है, उसका विवेकपूर्वक प्रयोग करने से और अपने को संयत करने से संतोष मिलेगा।

प्रत्यक्ष में सारा संसार डूबा है और उसी में रात-दिन उलझा हुआ है। जितनी ज्यादा उपलब्धियां होती हैं उतना ज्यादा संकट और उतना ज्यादा उपद्रव मनुष्य के जीवन में आते हैं। बहुत धन की उपलब्धि आत्मा के उद्धार के लिए कोई रास्ता थोड़े है। वह तो आत्मा को और डूबानेवाला है। धन बढ़ेगा, जन बढ़ेगा, पद बढ़ेगा तो विकार बढ़ेगा। गुरुवाई और महंती बहुत बढ़ा ऐश्वर्य है। अगर उसी में कोई सावधान न रहेगा, जागता न रहेगा, तो उसी का प्रमाद उसे घेर लेगा। कितने गुरु, महंत, मंडलेश्वर और जगद्गुरु बिलकुल बेकायदे बहे जा रहे हैं और असंतुष्ट हैं। “जो हैं हितैषी काम सोऊ सजग बिनु भटकावने” श्री विशाल साहेब ने कहा है कि जो हितैषी काम हैं, सावधान न रहे तो वे भी भटका देंगे। प्रत्यक्ष विषय जो संसार का यह सब पसारा है इसी के उधेड़-बुन में आदमी उलझा रहता है। विवेक से वह इसको करना नहीं जानता है। त्याग की शक्ति तो उसमें है नहीं, तनिक-तनिक बात को लेकर उसमें उलझन ही उलझन है।

जितना मिला है सब यहीं मिला है। कुछ लेकर हम पैदा नहीं हुए हैं और उसी में थोड़ा घट गया तो पीड़ित क्यों हो गये। “जितना मिल जाये, मिल जाये और कुछ घटने न पाये और सब ज्यों का त्यों बना रहे” यह सोच और यह विचार पीड़ा के सिवा और क्या दे सकता है? जितना मिला है, वह घटेगा, बिछुड़ेगा और बदलेगा। वह एकरस रहनेवाला है ही नहीं। जिन प्रत्यक्ष प्राणी और पदार्थों में आप अपने को चिपकाते हो, ये रहनेवाले हैं नहीं।

कुछ लोग प्रत्यक्ष से जब उदास हो जाते हैं तब वे परोक्ष में खोजते हैं। उनको आशा होती है कि भगवान कहीं मिले, परमात्मा कहीं मिले, ब्रह्म मिले, कोई मोक्षधाम मिले, स्वर्गलोक मिले तो आनन्द वहां होगा। वे लोग यह आशा करते हैं। कबीर साहेब अपने एक भजन में कहते हैं—

अमरपुर ले चलो मोर सजना।

अमरपुरी की सांकर गलियां, अड़बड़ है चलना।

ठोकर लगी गुरु ज्ञान शब्द की, उधर गये झपना।

वही अमरपुर लागि बजरिया, सौदा है करना।

वही अमरपुर संत बसत हैं, दरशन है लहना।

सन्त समाज सभा जहं बैठी, वही पुरुष अपना।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, भव सागर से तरना।

यह भजन मैं बचपन में देवियों के मुख से सुनता था।

कबीर साहेब की वाणी जनवाणी है। उनकी भाषा जन भाषा है। उनकी वाणी जनता में उसी भांति समायी है जिस प्रकार शरीर में रक्त समाया है। भारत के कोने-कोने में उनके भजनों को अपने-अपने अपभ्रंश बोलियों में लोग गाते हैं और गा-गाकर मगन हो जाते हैं। अमरपुर बाहर नहीं है। यह आत्मा ही अमरपुर है।

एक बार एक बड़े अफसर हमारे पास बैठे थे। वे कहने लगे कि साहेब, ‘अमरपुर ले चलो मोर सजना’ ऐसी-ऐसी बेकार की बातें लोग गाने लगते हैं।

मैंने कहा कि यह बेकार की बात नहीं है। “अमरपुर” आत्मस्थिति है, “सजना” सज्जन-सद्गुरु

हैं। जिज्ञासु कहता है कि हे सद्गुरु! हमें अमरपुर ले चलो। हमें अपनी आत्मा में स्थिति का रास्ता दिखाओ। वे आंखें मूंदे मेरी बात सुनते रहे और जब सुन लिये तब बड़ी गम्भीरता से कहे कि हां, अब ऐसा कोई बतानेवाला हो तब तो यह भजन सार्थक लगता है। वह बड़े तार्किक हैं। जब मैंने उनको समझाया तब उन्होंने कहा कि यह भजन सार्थक लगता है। मैं तो समझता था कि कोई लोक होगा और वहीं ये लोग चिल्ला रहे हैं कि ले चलो।

हर मत के पुराणों में स्वर्गलोक का खूब वर्णन है। इस्लामिक पुस्तकों में जो खास पुस्तक कुरान है उसमें बारम्बार आता है कि जो खुदा की बात मानेगा, पैगम्बर की बात मानेगा, निश्चित है कि वह 'बिहिस्त' में जायेगा।

स्वर्ग में परमात्मा दिव्य रूप में है। अपने बचपन में एक पुराण में मैंने पढ़ा था कि बारह सूर्यों जितना प्रकाश स्वर्ग का रहता है लेकिन गर्मी नहीं रहती है, शीतलता रहती है। भोगों के विषय में तो स्वर्ग की बहुत बड़ाई है और परमात्मा की भी है। यह सब परोक्ष की कल्पना है। परोक्ष में कल्पना कर ली जाती है कि परमात्मा कहीं होगा। उसका लोक कहीं होगा और वहां भगवान होगा। वहां पहुंच जायें और उसका दर्शन पायें तो परमानन्द है।

कुछ लोग स्थूल कल्पना नहीं करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा सब जगह है और वह निराकार है और जब उसको हम पा जायेंगे तब हम तृप्त हो जायेंगे। यह धारणा भी परोक्ष है क्योंकि यह तो मन की अवधारणा है लेकिन इस धारणा में दुनिया की झंझट घटती है।

जब दुनिया के भोगों से आदमी ऊब जाता है और जिस परिवार के बनाने के विषय में वह कभी खूब आतुर था, उसी परिवार से पीड़ित होकर अब उससे वह उदास हो जाता है। जिस कामभोग को वह अमृत समझता था उसी में सर पटकते-पटकते जब उसको घृणा हो जाती है तब पश्चाताप करता है कि यह मैं क्या

कर रहा हूँ? इसमें तो मैं बिलबिला रहा हूँ, असंतुष्ट हो रहा हूँ। क्या वह भी कोई सुख है जिसमें दूसरे की जरूरत पड़े और फिर शक्ति क्षय और मलिनता, तृष्णा, पश्चाताप, बिलबिलाहट हो। जब अपनी ही करनी से घृणा होती है तब उदासीनता आ जाती है और तब आदमी परोक्ष की ओर झांकता है कि कोई देवता हो, कोई परमात्मा हो, कोई भगवान हो, जो मिले और हमें आनन्द दे। इस प्रकार परोक्ष में आदमी जब अपना मन ले जाता है तब उसके चित्त में कुछ विश्राम मिलता है। दुनिया की हाय-तोबा को वह छोड़ता है और उसी का ध्यान-चिंतन करता है। निराकार और साकार कुछ मानकर जपता है, कुछ सोचता है, कोई नाम जपता है, कोई मंत्र जपता है, अनुराग करता है।

आदमी कोई मूर्ति रख लेता है और उसी के सामने रोता-गाता है। नहीं मूर्ति लगाता है तो किसी महापुरुष का चित्र ही लगा लेता है और उसी के सामने रोता-गाता है। इससे दुनिया की "हैंहस-खैंहस" उसकी घटती है और उसके चित्त में थोड़ा विश्राम मिलता है, थोड़ा आनन्द आता है और थोड़ी शांति मिलती है। यह ठीक है लेकिन परम शांति इससे नहीं मिलेगी क्योंकि यह तो मन की अवधारणा है। किसी ईश्वर-परमात्मा का नक्शा आप मन से ही बनाते हैं। ऐसे नक्शा की कल्पना पहले के लोगों ने किया है और वही आपने भी किया है। उसे आप सुने हैं, पढ़े हैं।

लोग कहते हैं कि परमात्मा की याद करो लेकिन याद किसकी होती है। याद उसी की होती है जिसको पहले आप देखे हैं। पहले जिसको आप देखे ही नहीं हैं, तब उसकी याद कैसे करेंगे। इस प्रकार जो याद करने की बात कही जाती है, यह याद करना नहीं है किंतु कल्पना करना है। ईश्वर की याद करो इसका मतलब है कि ईश्वर की कल्पना करो। ईश्वर का साकार या निराकार एक रूप बना लो और वैसे ही सोचो। यह कल्पना है, याद नहीं है।

यह सब परोक्ष है और मन का व्यापार है लेकिन यह व्यापार अच्छा है क्योंकि जो प्रत्यक्ष की गंदगी थी

और जो दुनिया की अहंता-ममता थी, उससे चित्त हटकर परोक्ष में लग गया। फिर भी वह सब है काल्पनिक ही। सारे ईश्वर, सारे भगवान, सारे देवता, सारे लोक काल्पनिक हैं, आपके मन के बनाये हैं लेकिन उसमें मन रमता है तो एक सात्त्विकता आती है, एक प्रसन्नता आती है और एक आनन्द आता है। उसके अभ्यास से चित्त में एक निर्मलता आती है, एक सफाई होती है लेकिन मन की चंचलता उससे नहीं मिटती है। उससे पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा। जिसके मिलने की कल्पना करो वह मिलेगा नहीं। क्योंकि वह भी एक कल्पना ही है और उसमें अंत में कुछ मिलनेवाला नहीं है। मन की चंचलता तो तब मिटती है जब प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से ऊपर उठकर अपरोक्ष बोध होता है। तभी पूर्ण विश्राम होता है। अपरोक्ष का मतलब है स्वयं प्रत्यक्ष। जिसे मैं चाहता हूँ वह बाहर नहीं है। “अहं ब्रह्मास्मि” यह उपनिषद् में कहा गया है और इसीलिए कहा गया है।

“अहं ब्रह्मास्मि”, “तत्त्वमसि”, “अयमात्मा ब्रह्म”, “प्रज्ञानं ब्रह्म” उपनिषदों के ये चार महावाक्य माने जाते हैं। तत्त्वमसि का तात्पर्य है—जिसको तू खोज रहा है वह तू है। यजुर्वेद में यह बात आयी है कि जो आदित्य में है वही मैं हूँ। वेद में सबसे बड़ा उपास्य आदित्य है। ‘एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ यह ऋग्वेद में आता है। “एकम् सद्” आदित्य है, सूर्य है। वेद के ऋषि लोग सूर्य में टकटकी लगाये ध्यान करते थे। वेद में ऐसा आता है।

वेद में सूर्य सबसे बड़ा उपास्य है और शुक्ल यजुर्वेद में कहा गया है कि जो आदित्य में है वही मैं हूँ। परमात्मा आदित्य में है तो वही मैं हूँ। पहले परमात्मा आदित्य में माना, सूर्य को परमात्मा माना लेकिन आगे चलकर कहा गया कि वह मैं ही हूँ। इसप्रकार ज्ञान का विकास हुआ और परोक्ष से अपरोक्ष की तरफ ऋषि लौटे। अभी मैंने आपको कहा कि ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ‘तत्त्वमसि’ ‘अयमात्मा ब्रह्म’ और ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ ये उपनिषदों में चार महावाक्य माने जाते हैं लेकिन उपनिषदों में इतने ही महावाक्य नहीं हैं अपितु बहुत हैं।

ये तो चार चुन लिये गये हैं और कह दिये गये हैं। इन महावाक्यों का तात्पर्य यही है कि जिसको मैं खोजता हूँ वह मैं खुद हूँ। बाहर कुछ भी पाना नहीं है। बाहर कुछ मिलना नहीं है। कबीर साहेब ने यही कहा—

कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग दूढ़े बन माहिं।

ऐसे घटि घटि राम है, दुनिया देखै नाहिं।

× × ×

“पानी में मीन पियासी, मोहे सुन-सुन आवे हांसी।”

“धोबिया जल बिनु मरत पियासा।”

इस प्रकार उनके अनेक वचन हैं जो स्वरूपबोध के लिए प्रेरक हैं। जैसे—

जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहि सो मूर।

बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गयी दूर ॥

“जाने बिना दूर, जाने को नजदीक, देखो निरन्तर में अपरोक्ष तसदीक” अपने में देखो। स्वयं अपने को पहचानो। परमात्मा को न खोजो। खोजने से परमात्मा न मिलेगा। खोजने से जो मिलेगा वह माया होगी। वह मिलेगी और छुट जायेगी क्योंकि जो चीज मिलती है वह छुट जाती है। आत्मा ही परमात्मा है। बाहर आत्मा से अलग परमात्मा नाम की कोई चीज मिलने वाली नहीं है। जब यह बोध हो जाता है तब यही अपरोक्ष बोध है और यहीं पर पूर्ण विश्राम है। कल मैंने कहा था कि कितने त्याग-वैराग्यसम्पन्न पुरुष हुए हैं और आज भी हैं जो यथार्थ बोध न होने से ईश्वर के दर्शन पाये बिना दुखी हैं।

लोगों में इतनी भावुकता है कि वे मानते हैं कि जो महापुरुष यहां से अपना शरीर छोड़-छोड़कर चले गये, वे आज भी हमको मिल सकते हैं। वे मानते हैं कि वे सब देहधारी हैं और इसलिए उनके मिलने की कल्पना की गयी लेकिन जो उनको देहधारी नहीं किंतु निराकार मानते हैं वे भी मानते हैं कि परमात्मा अलग है और वह मिलता है। इतना भी विवेक वे नहीं रखते हैं कि मिलेगा तो कैसे मिलेगा? और मिलने के साधन आपके क्या हैं? आपके शरीर में आंख, कान, नाक, जीभ, चाम और मन ये छः मिलने के साधन हैं।

आंख से जो मिलेगा वह रूप होगा, नाक से जो मिलेगा वह गंध होगा, जीभ से जो मिलेगा वह रस होगा, चाम से जो मिलेगा वह स्पर्श होगा, कान से जो मिलेगा वह शब्द होगा और मन से जो मिलेगा वह संकल्प-विकल्प होगा। ये सब विषय हैं। “गो गोचर जहं लगी मन जाई, सो सब माया जानहु भाई।” गो और गोचर ये दो हैं। गो यानी इन्द्रियां और गोचर यानी विषय। इन्द्रियों के साथ मन जहां तक जाता है वहां तक तुम माया समझो यह गोस्वामी जी भी कहते हैं।

गोस्वामी जी ने किसी भी आगतुक को श्रीराम के सौंदर्य में लुभाया है। श्रीराम में सुन्दरता की कल्पना गोस्वामी जी ने खूब किया लेकिन जब यथार्थ बात कही तब कहा कि—“गो गोचर जहं लगी मन जाई, सो सब माया जानहु भाई।” और “देखिय सुनिय गुनिय मन मांही, मोह मूल परमारथ नाही।” जो देखा-सुना जायेगा, मन में सोचा-समझा जायेगा, वह मोह का मूल बनेगा। “परमारथ” उसमें नहीं होगा। यहां उन्होंने भ्रम को एकदम काटकर रख दिया। उपनिषद् के ऋषि भी कहते हैं कि—

*यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तां आहुः परमां गतिम्॥*

जब पांच ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि चंचल नहीं होते इसको परम गति कहते हैं। यह यथार्थ कथन है। कुछ पाना नहीं है। आपकी इन्द्रियां केवल शांत हो जायें और आपका मन केवल शांत हो जाये, तो बस परम गति हो गयी। तथागत बुद्ध कहते हैं—

*अत्तना चोदय'त्तानं पटिवासे अत्तमत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥*

अर्थात्—जो अपने द्वारा अपने को प्रेरित करता है और अपने आप में निवास करता है, वह आत्म सुरक्षित और स्मृतिवान-सावधान भिक्षु सुखपूर्वक विहार करता है, सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

आत्मा द्वारा आत्मा को प्रेरित करे और आत्मा द्वारा आत्मा में निवास करे। शब्द और कथन के लहजे से ऐसा अर्थ किया जा सकता है लेकिन शुद्ध हिन्दी के अनुसार कहा जाये तो कहेंगे कि अपने आप को

उत्साहित करे और अपने आप में ही निवास करे।

साधक अपने को स्वयं प्रेरित करे, उत्साहित करे कि तू कहां पड़ा है। किस सड़ी हुई गली में तू पड़ा है, दुनिया के कूड़े-कचड़े में पड़ा है। तू जग जा, अपना मोह भंग कर और अपने आप में स्थित हो जा। जो अपने आप में स्थित है वह आत्मसुरक्षित है, स्मृतिमान है। वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। तथागत दूसरी बात कहते हैं—

*अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥*

आत्मा ही आत्मा का स्वामी है। उसका स्वामी दूसरा कौन हो सकता है। “अत्तना'व सुदन्तेन” जो आत्मा को सुदान्त कर लेता है, दमित कर लेता है, अपने आप को संयत कर लेता है, वह दुर्लभ नाथ को प्राप्त करता है। यह शब्द के अनुसार अर्थ हो गया। भावार्थ यह है कि वह दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त करता है जो अपने आप को स्ववश कर लिया। आत्मा ही आत्मा का स्वामी है और आत्मा ही आत्मा का प्राप्तव्य है। विवेकवान के चिंतन में अपरोक्ष बोध ही आता है।

वेद में और उपनिषद् में उनके ऋषि जहां आत्मज्ञान की बात कहे हैं वहां पर, महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध जहां आत्मज्ञान की बात कहे हैं वहां पर, कबीर साहेब ने जहां आत्मज्ञान की बात कही है वहां पर, स्वामी शंकर ने जहां आत्मज्ञान की बात कही है वहां पर, कपिल और कणाद ने जहां आत्मज्ञान की बात कही है वहां पर आत्म अपरोक्ष की ही बात आयी है, परोक्ष की नहीं आयी है।

‘एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि नामे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्’—यह सांख्य कारिका का वचन है जो कपिल महाराज का चिंतन है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ‘नास्मि न मे नाऽहम्’ अर्थात् मैं कर्ता नहीं हूं, मेरा भोक्तृत्व नहीं है और मेरे में क्रिया नहीं इसका बोध हो जाता है। ऐसी स्थिति में “अविपर्यय” हो जाता है, विपर्यय नहीं रह जाता है। विशुद्ध अवस्था आ जाती है। फिर केवल ज्ञान का उदय होता है। “केवल” अकेलापन है। आप केवल

हैं, अकेला हैं और असंग हैं, निराधार हैं, अद्वैत हैं, बका हैं। इसलामिक भाषा में कहें तो कहेंगे कि बका हैं अर्थात् शेष हैं, शुद्ध-बुद्ध हैं।

सब जीव अकेले हैं। अपने अकेलेपन का अनुभव करो। संग करके ही यह अवसाद है। संग यानी दूसरे को जोड़कर कि यह मेरा है, इसी से पीड़ा है। इसलिए पीड़ा से मुक्त होने के लिए मन के सारे बंधनों को काट दो और यह समझ लो कि कुछ भी मेरा नहीं है। बस, पीड़ा खत्म हो जायेगी, अवसाद खत्म हो जायेगा।

आप देख लो कि जहां अपना नहीं मानते हो क्या वहां से अवसाद है? जहां अपना माना जाता है वहीं से पीड़ा उत्पन्न होती है। अपने घर के ऊपर से एक ही खपड़ा गिर जाये तो चित्त में झटका लग जायेगा और दूसरे का पूरा मकान ही भहराकर गिर जाये तो कुछ भी न लगेगा। इस मन का ऐसा पाजीपन है। मकान में रहना पड़ेगा और मकान बनाना पड़ेगा। मकान में रहो लेकिन ऐसा रहो कि नरिया-खपरा गिरे तो चित्त में झटका न लगे। नरिया-खपरा को फिर से ठीक कर दो।

अपने को पदार्थपार वृत्ति की स्थिति में ले आओ। अपने को सबसे निकालो। किसी भगवान को पाने के चक्कर में न पड़ो। कोई भगवान नहीं मिलेगा। कोई परमात्मा नहीं मिलेगा। कोई मोक्षधाम और सतलोक बाहर नहीं मिलेगा। कोई ब्रह्मलोक, साकेत लोक, गोलोक, धुरधाम कहीं बाहर नहीं मिलेंगे। यह सब तो आत्मस्थिति है। आत्मस्थिति ही धुरधाम है, सतलोक है, साकेतलोक है, गोलोक है, शिवलोक है और ब्रह्मलोक है।

“तस्यायमात्मा लोकः” यह उपनिषद् का मंत्र है। उस विवेकवान के लिए आत्मा ही अपना लोक है। इसलिए उस आत्मलोक की अभिलाषा रखकर साधक घर से बेघर हो जाता है। घर-द्वार भी छोड़ देता है। घर-द्वार छोड़ने की योग्यता जिनमें हो गयी हो वे घर-द्वार छोड़ दें, यह ठीक है। सब तो घर-द्वार नहीं छोड़ पायेंगे। जो घर-द्वार छोड़ दें वे और जो घर-द्वार में रहें वे, दोनों यह काम करें कि ब्रह्मलोक, साकेतलोक, गोलोक, शिवलोक, सतलोक, धुरधाम बाहर न खोजें।

वे यह समझें कि यह आत्मलोक ही सतलोक है। अपरोक्ष अनुभूति ही सतलोक है।

अपनी प्रथम साधना में कोई सगुण उपासना, गुरु उपासना, गोविन्द उपासना या श्रीराम की उपासना करता है तो करे यह कोई बुरा नहीं है लेकिन आगे चलकर उसको समझना चाहिए कि आत्मा ही उपासनीय है। आत्मलीनता ही जीवन की कृतार्थता है।

शुरू में मैंने आपसे कहा था कि हम उदास क्यों हैं। हम अवसादग्रस्त और पीड़ित क्यों हैं। हमें हर समय अभाव का अनुभव क्यों होता रहता है क्योंकि हमने अपने को चारों तरफ से बांध लिया है। बाहरी प्राणी-पदार्थों में हमने अपने को जोड़ रखा है। प्रत्यक्ष वस्तुएं ही सत्य सार लगती हैं। देह और मन ही अपना स्वरूप लगता है। भोग जीवन का फल लगता है परंतु उसमें एकरूपता और एकरसता है नहीं तब आखीर अवसाद न होगा तो और क्या होगा। जो अभी है और अभी नहीं है किंतु “श्वोभावाः” है, क्षणिक है उसमें अवसाद ही तो होगा।

जब यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि देखो नचिकेता! आत्मज्ञान के बारे में मत पूछो। यह बहुत गूढ़ विषय है। तुम उसके बदले में सुन्दर स्त्रियां ले लो, रथ ले लो, घोड़े ले लो, स्वर्ग ले लो, और सौ वर्ष की आयु ले लो लेकिन आत्मज्ञान की बात मत पूछो।

नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि महाराज! ये सब आपके पास रहें। इन सबमें मैं लगूंगा तो मेरी इन्द्रियां जीर्ण होंगी। कौन विवेकवान विषयों का चिंतन करते हुए जीना चाहेगा। मुझे तो यही बताइये कि आत्मा क्या है। आप मुझे आत्मा के विषय में ही बताइये।

यमाचार्य ने कहा कि नचिकेता! तुम अध्यात्म के सच्चे साधक हो। क्योंकि जो विषयों को त्याग सके, वही आत्मसाधना की तरफ चल सकता है। जो विषयों में लगा रहेगा वह आत्मज्ञान क्या करेगा।

प्रत्यक्ष विषयों में हम अपने को जोड़-जोड़कर और उसी की उपलब्धि के चक्कर में पड़कर पीड़ित हैं क्योंकि वह एकरूप है ही नहीं। नचिकेता ने कहा कि

वह तो “श्वोभावाः” है। “श्व” कल और “अभाव” न रहना। भोग कैसे है “श्वोभावाः” है। आज है लेकिन कल नहीं रहनेवाले हैं। जो अभी है लेकिन अभी कुछ क्षण बाद नहीं रहेगा, उसमें मन रमाने से अवसाद न होगा तो और क्या होगा? पीड़ा न होगी तब और क्या होगी?

हम प्रत्यक्ष में डूबे हैं। भोगों में ममता करके हम डूबे हैं इसलिए अवसादग्रस्त और पीड़ित हैं। हम कहीं परोक्ष में कुछ पाना चाहते हैं इसलिए वहां भी विश्राम नहीं है। जब प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दोनों जाल कट जाते हैं और अपरोक्ष आत्मबोध हो जाता है और साधक आत्ममग्न हो जाता है, तब क्लेश समाप्त हो जाता है। जो अपने आप को समझ ले और अपने आप को पा ले वह विश्राम पा जाता है।

जब अर्जुन ने महाराज श्रीकृष्ण से पूछा—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥

हे केशव! स्थितिवान के लक्षण क्या हैं। वे कैसे उठते-बैठते और चलते-फिरते हैं? तब उन्होंने कहा था—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

हे पार्थ! जहां तक मन की कामनायें हैं उन सबको जिसने परित्याग कर दिया है। और आत्मा द्वारा जो आत्मा में ही संतुष्ट है, प्रत्यक्ष और परोक्ष की सारी कामनाएं छोड़कर अपने आप में जो लीन हो गया है, अपने आप में तृप्त हो गया है वही स्थितिवान पुरुष है। साहेब की वाणी है—

जो तू चाहे मूझको, छाँड़ सकल की आश।

मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥

अगर तुम मुझे चाहते हो तो सारी कामनाओं को छोड़ दो। बस, तुम भी मेरे समान सुखी हो जाओ।

इस प्रकार आज के विचार का विषय यह है कि हमें अवसाद क्यों है? पीड़ा क्यों है? हमें अवसाद और पीड़ा इसलिए है कि प्रत्यक्ष में मिले हुए प्राणी और

पदार्थों में हम चिपके हुए हैं जो क्षण-क्षण बदल रहे हैं। जिसका कुछ भी इत्मिनान नहीं है कि कब कहां क्या हो जाये। जब तक वे हमारे पास रहेंगे तब तक हमें संतोष नहीं मिलेगा। हम बिलबिलाते रहेंगे, असंतुष्ट बने रहेंगे। हम भोगते रहेंगे और बिलबिलाते रहेंगे। भोग की यही तो लीला है कि भोगते रहो और लगता रहे कि भोग अभी हुआ ही नहीं। खाते रहो और खाने से तृप्ति न हो। देखते रहो लेकिन तृप्ति न हो, सुनते रहो लेकिन तृप्ति न हो, अपनी मान-बड़ाई चौबीस घंटे सुनते रहो लेकिन तृप्ति नहीं हो।

इसलिए इस प्रत्यक्ष और परोक्ष के जाल को काटकर जो अपरोक्ष आत्मबोध में स्थित हो जाता है, उसका सारा अवसाद समाप्त हो जाता है। वह शीतल, कृतकृत्य और कृतार्थ हो जाता है। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अब अपनी वाणी को विराम देता हूँ। □

गजल

रचयिता—श्री लखन प्रतापगढ़ी

तन मिला है तो कर लो बड़े काम कुछ कल रहे न रहे जो अभी आज है। गिर गया आदमी इस कदर है यहां लूट सकता किसी की कहीं लाज है। जान पाया न दुनिया को मैं आज तक जानने को अभी भी कई राज हैं। प्रेम की बात कैसे करूँ विश्व में जब पड़ोसी हमारा ही नाराज है। भूख लगती है तो पास भोजन नहीं पास भोजन है तो भूख नासाज है। घर में मां बाप प्यासे पड़े हैं भले बेटा दुनिया में सेवा का सरताज है। आज वो भी उपेक्षित पड़े हैं यहां जिसके ऊपर जहां को रहा नाज है। जिस किसी पर भरोसा किया ये ‘लखन’ बन गया फिर वही कोढ़ में खाज है।